ज्ञानोपदेश

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६५

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २ ० रुपया

प्रथम संस्करण १००० } मई १९७२ ज्येष्ठ सं०—२०२९ { मूल्य : १.६५

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग।

विषय-सूची

संस्मरण

(१४)

माँ गगा की गोद मे

निराकार भजन्ते के नराकार तथापरे।
चयंतु तापसैस्तप्ताः निराकार सुधास्महे ॥*

छप्पय

निरगुनियाँ धरि ध्यान ब्रह्म निरगुन कूँ ध्यावैं।
ज्योति लखै हरषायँ और जा कछु ही पावैं॥
ध्यावैं कोई मोरमुकुट वंशीधर यदुवर।
कोई सीयालखन सहित ध्यावै धनुधर वर॥
निरगुन सरगुन होहिँ भल, नहिँ हम जा चक्कर परहिँ।
त्रिविध ताप तैं तपित हम, शीतल जल युत मो मजहिँ॥

माँ! गगे! न जानें कितने सतप्त प्राणियो को तुमने शान्ति दान की है। जगज्जननी! तुम कितनी सहनशीला और समदर्शिनी हो। योग्य-अयोग, पडित, मूर्ख, छोटे बडे सभी तुम्हारी सन्तानें हैं, सभी पर तुम्हारी ममता है। ज्ञान के भडार ऋषि

---

* कोई तो बिना आकार वाले निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, कोई राम, कृष्ण वामनादि नराकृति परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करते हैं। हम तो भैया! ससार त्रिविध तापों से तपे हुए जल रूप ग, गगा के रूप म ब्रह्म द्रव है, उसकी उपासना करते हैं।

मुनियों ने तुम्हारे तट पर निवास करके शान्ति का अनुभव किया है। दुखियों ने अपने दुःखों को भुलाया है, पापियों ने आपकी शरण में आकर पापों का प्रक्षालन किया है। माँ! तुम पापी, तापी संतापी सभी को शरण देती हो, सभी के दुःखों को दूर करती हो। जीते ही नहीं मरणोपरान्त भी आपकी क्रोड़ में आकर पापी से पापी भी शान्ति पाते हैं। माँ! तुम सतत बहती ही रहती हो, बहती ही रहती हो, मानो विश्राम करना तुमने सीखा ही नहीं। बिना थके तुम चलती ही रहती हो, पल भर को भी रुकती नहीं। माँ! ऐसी कौन-सी व्यग्रता है तुम्हें? तुमतो सागर के साठ सहस्र सुतों का उद्धार करने स्वर्ग से अवनि पर आई थीं। उनका उद्धार कर चुकीं, अब इतनी शीघ्रता क्यों कर रही हो, क्यों निरन्तर चलती ही रहती हो। तनिक तो विश्राम कर लिया करो। किन्तु माँ! तुम्हारे लिये तो सभी सगर के सुत हैं। सभी विषय रूपी विष-गर के सहित उत्पन्न होते हैं (सूयते+इति सुतः) जब सभी में पाप रूपी विष भरा है तो सभी सगर सुत हैं। तुम्हें तो सभी का उद्धार करना है। इसीलिये तुम सतत व्यग्र बनी रहती हो।

माँ! तुमने बड़े-से-बड़े पापियों का उद्धार किया है। जननी! तुम पापियों से घबड़ाती नहीं। सभी तुम्हारी सन्तानें ही हैं। ये जो राजनैतिक जन्तु जीवन में कैसे अकड़ते रहते हैं–हम गंगा-फंगा को नहीं मानते।" मरने पर उनकी जली हुई अस्थियों को भी माँ! तुम शरण देती हो। कितनी दयामयी हो माँ! कितनी कृपा की मूर्ति हो माँ। मैंने भी तुम्हारे चरणों की शरण गही है और शान्ति का अनुभव किया है। माँ! यही प्रार्थना है, अन्त तक ऐसे ही निभा लेना। इस नश्वर शरीर को अपनी निर्मल नीर में एकीभूत कर लेना। माँ! तुम्हारे बिना जीव का अन्य

आश्रय कहाँ है ? तभी तो राज्यपाट का परित्याग करके राजर्षि महाराज परीक्षित् ने आपके चरणों की शरण गही थी। अन्त समय मे आपकी पद धूलिका सेवन किया था और उन्होंने मुनि मण्डली के मध्य मे चिल्लाकर कहा था—

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥

माँ गगाजी की उत्पत्ति हमारे श्यामसुन्दर के अरुण-वरण के चरण कमलो से हुई है। वहाँ से वे चरण कमलों की पावन पुनीत पराग के सहित तथा चरणारविन्दों मे चढी तुलसी की मधुर पाप ताप हारी सुगन्ध सहित वहाँ से चली। उनका प्रवाह वहाँ से विष्णुलोक से प्रवाहित होकर पृथ्वी पर आया। यही कारण है, कि वे ऊपर के लोकों को लोकपालो सहित पवित्र करती हैं तथा नीचे के भी समस्त लोकों को पावन बनाती हैं। ऐसी परमपावनी कलिमलहारिणी जगदुद्धारिणी कल्मषकाटिनी माँ जाह्नवी को ऐसा कौन पुरुष होगा जिसकी मृत्यु निकट आ रही हो—जो मरणासन्न हो—वह उन माता का सेवन न करेगा ?"

जान में अनजान मे कैसे भी माँ गगा का सेवन करने से चित्त में एक प्रकार की प्रफुल्लता आती है। कारावास से छूटकर आया, तो मन मे एक प्रकार की अशान्ति थी। राजनैतिक पुरुषों के आचरणों से चित्त उद्विग्न था। मेरा उद्देश्य राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने का कभी नहीं रहा। मैं तो स्वदेश में स्वराज्य हो—धर्मराज—रामराज—हो इस उद्देश्य से स्वतन्त्रता सग्राम में कूदा था। मेरे जीवन का उद्देश्य तो आरम्भ से ही प्रभु प्राप्ति—

धार्मिक सम्पत्ति का अर्जन–ही था। बाहर जब सर्वत्र निराशा-जनक शांति का वातावरण था, तब मेरे मन में आया, चलो भगवती भागीरथी के तट पर एक मास निवास करके चान्द्रायण व्रत का अनुष्ठान करें।

तब तक चान्द्रायण व्रत के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन तो किया नहीं था। यही सुन रखा था, कि जैसे-जैसे चन्द्रमा की कला बढ़े तैसे-तैसे एक से लेकर पन्द्रह ग्रास तक बढ़ाना, फिर पूर्णिमा से एक-एक ग्रास घटाते-घटाते अमावास्या को उपवास करना। इसे यव चान्द्रायण कहते हैं। जैसे जौ दोनों ओर पतला होता है, और बीच में मोटा होता है। तब तक पिपीलिका और समचान्द्रायण या यति चान्द्रायण का ज्ञान नहीं था।

चान्द्रायण व्रत तीन प्रकार का होता है। (१) यव चान्द्रायण (२) पिपीलिका चान्द्रायण और (३) तीसरा सम चान्द्रायण अथवा यति चान्द्रायण। यव चान्द्रायण अमावास्या से आरम्भ होता है। अमावास्या को कुछ न खाय प्रतिपदा को एक ग्रास, द्वितीया को दो ग्रास से बढ़ाते-बढ़ाते पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास। फिर एक-एक घटाते-घटाते अमावास्या को कुछ नहीं, बीच में मोटा (१५ ग्रास) होने से और दोनों अमावास्याओं को पतला होने से इसे यव चान्द्रायण कहते हैं। ग्रास कितना बड़ा हो उसके लिये लिखा है उतना बड़ा हो जितना बड़ा मुर्गी का अंडा (कुक्कुटांडवत् प्रमाणम्) सामान्यतया दो तोले का हो। न कोई ग्रास बड़ा हो न छोटा सभी ग्रास एक से हों। वे हविष्यान्न के हों। जैसे पूड़ी परामठे का चूरमा बना लिया या दूध के खोये के ग्रास बना लिये ग्रासों को कांटे में तौल कर बनावे।

पिपीलिका चान्द्रायण पूर्णिमा से आरम्भ होता है। पूर्णिमा को १५ ग्रास फिर घटाते-घटाते अमावास्या को एक भी

नहीं। फिर शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से एक-एक बढ़ाते बढाते पूर्णिमा को फिर १५ पर आजाय जैसे चींटा बीच मे पतला होता है दोनो ओर मोटा होता है, ऐसे ही यह है इसलिये यह पिपीलिका चान्द्रायण होता है। यह स्वाभाविक है, वैज्ञानिक है। इसमे कोई भय की बात नहीं। यव चान्द्रायण मे चौदस को खब भर पेट खाया अमावास्या को उपवास फिर एक एक बढाकर पूर्णिमा को १५ फिर घटाकर अमावास्या को कुछ नही। फिर भूख लगती ही है मनुष्य अधिक खा जाते हैं बहुतो की मृत्यु हो जाती हैं। मैं स्वय मरते-मरते बचा। इस पिपीलिका चान्द्रायण मे कोई भय नही। चौदस को भर पेट खाया पूर्णिमा को १५ ग्रास मिल गये। सामान्यतया १५ ग्रासो मे पूरा आहार हो जाता है। ६ छटाक पर्याप्त है। फिर क्रमशः घटता है और क्रमशः बढकर पूर्णिमा को फिर १५ पर आ जाते हैं इससे दूसरे दिन अधिक भी खाले तो वैसा विशेष प्रभाव नहीं पडता। फिर भी व्रत के पश्चात् १५ दिन सावधानी की नितान्त आवश्यकता है।

तीसरा सम चान्द्रायण है। पिछले दोनो चान्द्रायणो मे सब २४० ग्रास होते हैं। सम चान्द्रायण में २४० को ३० दिन में बाँट दे। तो नित्य ८ ग्रास होते हैं। इसमे घटाने बढाने की आवश्यक्ता नहीं। नित्य आठ ग्रास खाले। संन्यासी को जीवन पर्यन्त नित्य आठ ग्रास ही खाने का विधान है। इसीलिये इसे यति चान्द्रायण भी कहते हैं। वैसे तो नमक न खाने से, जाड़े मे करने से एक बार ही पानी पी लेने से पुनः पानी पीने की इच्छा नहीं होती, किन्तु बीच में जल पीने की इच्छा हो तो जल पी भी सकता है। इसे तीनों का भेद तब तक पता नहीं था, जब चान्द्रायण को ही चान्द्रायण मानते थे इसलिये वही

याचना करने आये। मैं तो उनकी सौम्यता, सरलता तथा नम्रता को देखकर अवाक् रह गया। मैं समझता था, वे मेरे सम्बन्ध में कुछ भी न जानते होंगे। मिलते तो पहिले ही प्रणाम कर लेते थे। किन्तु उस दिन पता चला वे तो मेरे सम्बन्ध में सब कुछ जानते हैं। स्यात् रामेश्वर ने उन्हें सब बताया होगा। लाला कुन्दनलाल जी के तीन पुत्र थे, लाला किशोरीलाल, मुरारीलाल और बाबूलाल। बाबूलालजी वैद्य भी थे। वे कभी-कभी आया करते थे। वे भी मुझसे अत्यधिक स्नेह मानने लगे।

श्रीहरिबाबाजी इधर अभी कुछ ही दिनों से गंगा किनारे घूमते-घूमते आये थे। इनका जन्म पंजाब के होशियारपुर जिले के एक छोटे से गाँव मेंगरवाल में सिक्खधर्मावलम्बी अहलूवाल सूद जाति में हुआ था। इनके पिता पटवारी थे। कहावत है—"होनहार बिरवान के, होत चीकने पात।" ये बाल्यकाल से ही सौम्य गम्भीर और संसारी विषयों से विरक्त थे। ऐसे कारक पुरुषों को साधन नहीं करना पड़ता, ये तो जन्म जन्मान्तरों में अनेक साधन करके ही अवतरित होते हैं। ये देश, काल, जाति सम्प्रदाय के बन्धन से ऊपर उठे रहते हैं। ऐसे लोगों की वृत्तियाँ स्वयं ही पूर्व जन्मों के संस्कारानुसार समाहित रहती हैं। इनके माता-पिता इनका विवाह करना चाहते थे, किन्तु ये विवाह-बन्धन में बँधने के निमित्त संसार में थोड़े ही आते हैं। ये तो बन्धन में बँधे हुए जीवों को मुक्त करने अवनि पर अवतरित होते हैं। प्रवेशिका (इण्टर) परीक्षा पास करके ये चिकित्सा महाविद्यालय (मेडिकल कालेज) में प्रविष्ट हो गये। वहाँ की पढ़ाई में एक वर्ष ही शेष था, कि इसे झंझट समझकर तथा उसे छोड़कर अपने गुरु श्री स्वामी सच्चिदानन्दजी के आश्रम में होशियारपुर में आकर रहने लगे।

जिन दिनों ये चिकित्सा महाविद्यालय में पढते थे उस समय की एक घटना किसी ने मुझे बतायी थी। ये अपनी कक्षा के कई छात्रों के साथ यत्रों से कोई प्रयोग कर रहे थे। महाविद्यालय के अभ्यास कक्ष का कोई मूल्यवान् कॉच का पात्र इनकी सहपाठिनी एक लडकी से फूट गया। इनके सभी साथियो ने मिलकर उस लडकी का नाम तो बताया नहीं इनके मत्थे वह दोष मढ दिया। प्रधानाचार्य ने कहा— 'तुमने इस पात्र को फोडा है, ऐसा ये तुम्हारे सभी साथी कह रहे हैं।" ये कुछ भी नहीं बोले चुपचाप खडे रहे। तब प्रधानाचार्य ने कहा—"इसका मूल्य इतने रुपये हैं। तुम इतने रुपये लाकर उपस्थित करो।"

ये कुछ भी न बोले। दूसरे दिन उतने रुपये चुपचाप कार्यालय में लाकर दे दिये। कालान्तर मे प्रधानाचार्य को यथार्थ बात का पता चल गया। वे यह भी जान गये कि पात्र इनसे नहीं फूटा है। इसलिये उन्होंने इन्हें बुलाया और कहा—"क्यों भाई! हमने सुना है वह पात्र तुमसे नहीं फूटा था उस लडकी से फूटा था।" ये फिर भी चुप रहे। तब आचार्य ने पूछा—"सच-सच बताओ।"

तब ये बोले—"जी मुझसे नहीं फूटा था।"

तब आचार्य ने कहा—"यह बात तुमने उस समय क्यो नहीं बतायी। फिर नहीं फूटा था, तो इतने रुपये लाकर क्यों दे दिये।"

इन्होंने कहा—"जी, जब मेरे सभी साथियो ने मेरा नाम लगा दिया, तो फिर मैंने बात को बढाना नहीं चाहा। २५, २६ रुपये के पीछे मैं उन्हें झूठा बनाऊँ, वाद विवाद बढ़ाऊँ यह मैंने उचित नहीं समझा। इतने थोड़े रुपये देने पर ही बात समाप्त हो जाय, इसीलिये मैंने चुपचाप रुपये लाकर दे दिये।"

इनकी इस सहनशीलता पर दोष दर्शन की अनिच्छा से

आचार्य अत्यन्त प्रभावित हुए। यह गुण इनमें अन्त तक रहा। भागवत के इन श्लोकों का वे नित्य नियम से पाठ कराया करते थे—

> परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्नगर्हयेत्।
> विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च॥
> परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
> स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः॥*

वे जहाँ तक होता दूसरों की निन्दा से सदा बचने का ही प्रयत्न करते। किसी की निन्दा का प्रकरण उपस्थित होने पर या तो वे उस प्रसंग को ही बदल देते, या कह देते अरे भैया! भगवत् चर्चा करो।" परनिन्दा से वे सदा भयभीत रहते।

जब वे चिकित्सक की पढ़ाई छोड़कर अपने गुरु के आश्रम में रहने लगे, तो वहाँ आश्रम की निरन्तर सेवा में ही जुटे रहते। वे सेवा पर अत्यधिक बल देते। वे कहते थे—सेवा ही सब कुछ है, सेवा से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। मनुष्य, वृक्ष पशु-पक्षी किसी की भी सेवा करो। फिर गुरु की, सन्त की सेवा तो साक्षात् मोक्ष का द्वार ही है। वे रात्रि में बहुत ही कम सोते, दिन रात्रि आश्रम के वृक्षों को पानी देने में, आश्रम को स्वच्छ करने में जुटे रहते। स्वच्छता उन्हें अत्यन्त प्रिय थी। जहाँ भी

---

* दूसरों के स्वभाव की तथा कर्मों की न तो निन्दा ही करे और न प्रशंसा ही करे। इस सम्पूर्ण विश्व को एकात्म देखे, कि यह प्रकृति और पुरुष का खेल है। जो पुरुष दूसरों के स्वभाव की तथा कर्मों की प्रशंसा अथवा निन्दा करता है, वह शीघ्र ही अपने स्वार्थ से च्युत हो जाता है, क्योंकि उसने असत्य में अभिनिवेश कर लिया है। जगत् जो असत्य है, उसी के कार्यों की आलोचना प्रत्यालोचना करता है।

रहते अपने हाथों से सफाई करते। वे बार-बार कहा करते—"सफाई ही खुदाई है।" स्वच्छता को देखकर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं।

सुठि सुन्दर आश्रम निरखि, हरषे राजीवनयन।

इतना करने पर भी उनके गुरु ने कहा—"तुम आश्रम की रोटी व्यर्थ ही खाते हो, कुछ कमाकर खाओ। अतः आपने कुछ काल के लिये अध्यापकी कर ली। उससे जो वेतन मिलता—उस सबको गुरुचरणों मे अर्पित कर देते।

कुछ दिनो में यह भी उन्हें झंझट ही दिखायी दिया। वे नौकरी-चाकरी करने को थोड़े ही आये थे। उन्हे तो भक्ति भागीरथी की अजस्रधारा बहानी थी। अतः आश्रम छोड़कर काशीजी चले गये। सदा-सदा से यह भगवान् शङ्कर के त्रिशूल पर अवस्थित मुक्तिदायिनी विश्वनाथपुरी समस्त साधकों की प्रेरणा का स्रोत रही है। सभी ने इसी पावनपुरी मे आकर अपने कर्तव्य की उपलब्धि की है। देश के किसी भी भाग मे जन्मा हो, उसे अपने जीवन को सफल बनाने इस कल्मषनाशिनी काशी में आना ही पड़ता है। यह ज्ञान का भंडार है अतः हमारे दीवानसिंहजी (श्रीहरिबाबा जी का घर का नाम यही था) काशी पहुँच गये। वहाँ क्या करते। बहुत सोच विचारकर इन्होंने हिन्दु महाविद्यालय में बी० ए० के छात्रों में अपना नाम लिखा लिया और वहाँ पढ़ने लगे।

किन्तु ये पढ़ते क्या, वे तो पढ़े पढ़ाये ही पैदा हुए थे। वहाँ से पढ़ना छोड़कर-अपने आप बाजार से गेरू लाकर-कपड़े रँगकर-अपने समस्त सामान को दीन दुखियों मे बाँटकर गंगा किनारे-किनारे चल पड़े।

उन दिनों गङ्गा किनारा ही विरक्त महात्माओं का राजपथ

था। सैकड़ों सहस्त्रों साधु केवल एक कमण्डलु लिये गंगा किनारे-किनारे विचरा करते थे, गंगा किनारे के गाँवों के गृहस्थी ऐसे सधे हुए थे, कि अपने ग्राम में कितने भी साधु आ जायँ वे सबकी भिक्षा का प्रबन्ध करते। गाँव के बाहर कुटियाँ बनी रहतीं उनमें विरक्त महात्मा आकर ठहर जाते। मधुकरी करने वाले कितने भी साधु आ जायँ। सभी घरों से उन्हें एक-एक, दो-दो रोटियाँ मिलतीं। अतः विरक्त सन्त गंगा किनारा छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते। वे हरिद्वार से लेकर काशी तक विचरते रहते। काशी से आगे कोई-कोई ही जाते। वे अंग-बंग देशों में प्रवेश निषेध मानते। हमारे अनामी दीवानसिंहजी भी कपड़े रंग कर गंगा किनारे-किनारे चल दिये। कोई दे देता तो खा लेते। नहीं भूखों ही रह जाते। प्रयागराज में आकर द्रौपदीघाट की एक कच्ची गुफा में दो तीन वर्ष तक रहे। एक बंगाली स्वामी वहाँ आश्रम बनाकर रहते थे। मैंने भी उनके दर्शन किये हैं। उन्हीं के कहने पर वहाँ रह गये। वे कहते थे हम एक दिन भिक्षा कर लाते खाने के अनन्तर जो रोटियाँ बच जातीं उन्हें कपड़े में लपेटकर भूमि में गाड़ देते। और नित्य उनमें से निकालकर पानी में भिगोकर खा लेते। इस प्रकार घोर तितिक्षा का जीवन बिताते हुए ये पुनः होशियारपुर में अपने गुरु के आश्रम में पहुँचे। ये सोचते थे, गुरुदेव अप्रसन्न होंगे, किन्तु वे तो इनके स्वभाव को पहिले से ही जानते थे, कि यह घर में रहने वाला नहीं है। अतः वे बोले—"तुम अपने ही आप प्रकाशित हुए हो, अतः तुम्हारा नाम स्वतः प्रकाश हुआ। अब ये स्वतःप्रकाश स्वामी बन गये। आश्रम में आकर ये पुनः पूर्ववत् आश्रम की सेवा करने लगे। स्वामीपने का इनके मन में तनिक भी अभिमान नहीं था। कुछ दिन सेवा करने के अनन्तर इन्हें आश्रम जीवन से भी उपराम हो गया और ये

आश्रम छोड़कर गंगा किनारे अनूपशहर चले आये। वहाँ भैरिया मे नगाली स्वामी की सन्निधि मे निवास करने लगे। आस-पास के गाँवों से जाकर भिक्षा कर लाते और गंगा किनारे एक पेड के नीचे पड़े रहते। उस समय की एक मनोरंजक घटना किसी ने मुझे सुनायी। गँवे के लाला कुन्दनलालजी नगाली स्वामी के भक्त थे, वे उनकी सेवा करते आगत साधु सन्यासी अभ्यागतों को वे ही भोजन बनवाकर भिक्षा कराते। गंगा किनारे साधुओं का तो राजपथ ही था। भिक्षा का सुपास देखकर कुछ साधु अधिक दिन डट जाते। दो तीन दिन तो लालाजी उन्हे प्रेम से भिक्षा कराते फिर किसी मिस से उन्हें आगे बढने को कहते। हमारे स्वामी स्वतःप्रकाशजी भी जब अधिक दिन डट गये, जाने का नाम ही नहीं लेते तो एक दिन लालाजी ने आकर पूछा—"कहो स्वामीजी। अब किस ओर विचरने का इरादा कर रहे हैं ?"

स्वामीजी समझ गये, लालाजी प्रकारान्तर से भिक्षा के लिये मनाकर रहे हैं। अतः उन्होने क्षेत्र से भिक्षा लेना बन्द कर दिया। गाँवों से जाकर मधुकरी कर लाते थे। उन दिनों गंगा किनारे अद्वैत वेदान्ती स्वामी ही विशेष विचरते थे। एक अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। मैं ही ब्रह्म हूँ, ये भाव गाँव-गाँव में, घर घर में व्याप्त हो गये थे। पजाब की तो स्त्रियाँ भी बडी-बडी अद्वैत वादिनी हो गयी थी। उन दिनों योगवासिष्ठ, चित्सुकी, पञ्चदशी, वृत्ति प्रभाकर तथा शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र इन्हीं अद्वैत वेदान्त ग्रन्थ की विद्वत् संन्यासि मडली मे चर्चा होती थी। जो सस्कृत से अनभिज्ञ थे, वे दादू पन्थी श्री निश्चलदासजी के विचार सागर का मनन अध्ययन और सत्सग करते। पजाब के गाँव गाँव में अहं ब्रह्मास्मि का प्रचार था। वहाँ की स्त्रियाँ बहुत अधिक भावुक होती हैं। उन्हीं में वेदान्त का प्रचार अधिक था।

हरिबाबाजी ने भी अपने गुरु स्वामी सच्चिदानन्दजी से इसी वेदान्त का श्रवण किया था, अतः वे भी इसी में निष्ठा रखते थे। हमारे पं० दौलतरामजी (स्वामी अच्युत मुनिजी) पहिले डी० ए० वी० कालेज में अध्यापक थे, आर्य समाज में उपदेशक भी रहे। पीछे विरक्तभाव से पंडित वेष में ही पाइजामा अँगरखी पहिने विचरते रहे। एक बार वे अत्यधिक रोग ग्रस्त हो गये। तभी इन्होंने स्वतः ही कपड़े रंगकर आतुर संन्यास ले लिया। तब से उनका नाम अच्युत मुनि पड़ा। बड़े उग्र स्वभाव के थे। अद्वैत वेदान्त के प्रकांड पंडित थे। पञ्चदशी उनका अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ था। उसी को सबको पढ़ाते थे। उसी का सबको उपदेश करते थे। मेरे ऊपर उनकी बड़ी कृपा थी। एक दिन मुझसे बोले—"ब्रह्मचारी ! मैं तुम्हें ब्रह्म साक्षात्कार करा दूँ ?"

मैंने कहा—"करा दो महाराज !"

वे बोले—"इसमें बहुत समय नहीं लगेगा। मिनटों का काम है, मैंने गौरीशंकर को करा दिया, वृद्धिचन्द को करा दिया, भूदेवशर्मा को करा दिया तुम्हें भी मैं मिनटों में करा देता हूँ।"

उन दिनों मैं सदा सब समय मुख से "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस मन्त्र का उच्चारण करता रहता था मुझसे बोले—"तुम्हें यह मन्त्र बोलना छोड़ना पड़ेगा।"

मैंने कहा—"महाराज ! मैं इसे तो छोड़ नहीं सकता।"

तब वे बोले—"अरे, तुम को तो नाम में मोह है। तब कैसे ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है।"

मैंने कहा—"भगवन्नाम को छोड़कर मुझे ब्रह्म साक्षात्कार नहीं चाहिये। मेरे इस उत्तर से वे अप्रसन्न नहीं हुए।"

एक स्वामी हीरादासजी थे। बड़े भारी विरक्त कट्टर वेदान्ती,

वे किसी साधु की किसी स्थान मे किसी वस्तु मे तनिक भी आसक्ति देखते, तो उसकी बड़ी कड़ी आलोचना करते। श्रीहरि बाबाजी से कहते—"तुम्हें गँवे से मोह हो गया है, श्री उड़िया बाबाजी से कहते—"तुम्हें रामघाट से मोह हो गया है, मैंने भी वनी बुगरासी आते समय भगवानपुर घाट मे नौका मे उनके दर्शन किये थे। उन दिनों एक नौका में ही वे रहते थे। एक माई उनकी सेवा मे थी। मुझसे पूछा—"तुम्हें कांग्रेस से कै रुपये महीने मिलते हैं?" मैंने कहा—"मैं नौकरी नहीं करता। मुझे कुछ भी नहीं मिलता।"

वे बोले—"तो वैसे ही गाँव-गाँव मारे-मारे फिरते हो।"

मैंने कहा—"मैं तो देश सेवा के भाव से घूमता हूँ। जैसे वे नौका मे रहते थे, वैसी ही एक नौका सेठ गौरीशंकरजी गोयनका ने स्वामी अच्युत मुनि के लिये बनवायी थी। वह काशी के बजड़ाओं की भाँति बहुत सुन्दर काँच के दरवाजे लगाकर बनी थी। स्वामीजी उसी मे रहते थे। एक नौकर था वह अनूपशहर आदि से भिक्षा ले आता। नौका कभी किसी घाट पर रहती कभी किसी पर। सेठ गौरीशंकरजी गोयनका सत्सग के लिये कभी-कभी आया करते। अनूपशहर के पं० श्रीलालजी (जो बम्बई में व्यवसाय करते थे) प० रमाशंकरजी गुजराती, गँवे के लाला-कुन्दनलालजी के भतीजे लाला हीरालालजी ये लोग स्वामीजी के सत्संग मे जाते थे। स्वामीजी कभी वृत्ति प्रभाकर, कभी पचदशी की कथा करते। जो भी आता उसे पचदशी पढ़ाते मेरे एक भक्त मैनपुरी मिलावली के कुँवर कायमसिंहजी थे। वे मेरे अनन्य भक्तों में से थे। मेरे साथ स्वामीजी के दर्शनो को गये तो स्वामीजी ने उन्हें कांगड़ी विश्व विद्यालय भू० पू० आचार्य 'अभय' जी द्वारा की हुई पंचदशी की हिन्दी टीका छपाने की

आज्ञा की। उनकी आज्ञानुसार वह छपाकर वितरित करायी गयी।

अधिकतर स्वामीजी भैरिया (भृगु क्षेत्र) के ही आस-पास अपनी नौका रखते थे। बंगाली बाबा की भी सेवा करते थे। बंगाली बाबा के परलोक गमन के पश्चात् तो भैरिया में उन्होंने साधुओं के लिये स्थायी क्षेत्र ही खुलवा दिया था। मैंने बंगाली बाबाजी के दर्शन तो स्यात् नहीं किये। किन्तु भैरिया में जब उनकी केवल एक पक्की कुटी ही थी तब से उसे देखा है। पीछे तो भृगुजी का मन्दिर पाठशाला, धर्मशाला आदि बन गये बाग-बगीचा लग गये। पूरा आश्रम बन गया। अब तो जो बिना स्वामी के आश्रमों की जो दुर्दशा होती है, वही भृगुक्षेत्र के आश्रम की दुर्दशा हो रही है।

हाँ, तो लाला हीरालालजी अत्यन्त ही भावुक भक्त और साधु सेवी थे। कुछ अंगरेजी भी पढ़े थे। इसलिये वे हमारे स्वामी स्वतः प्रकाशजी को बंगालीबाबा से कहकर गँवा ले गये। गँवा के लालाओं ने अपने बगीचों में साधुओं के लिये कुटियायें बनवा रखी थीं। भिक्षा का भी गाँव में समुचित प्रबन्ध था। अतः वहाँ कोई न कोई महात्मा नित्य ही आते जाते रहते। कुछ स्थायी भी रहते थे। स्वामीजी गँवे में रहने लगे। पास में दीपपुर के घाट पर स्वामी अच्युत मुनि की नौका लगी थी। उसमें वे वेदान्त के ग्रन्थों को आगत जिज्ञासुओं को पढ़ाते। हमारे स्वामीजी भी नित्य उनसे पढ़ने, पाठ सुनने पहुँच जाते। नागपुर के सेठ वृद्धिचन्दजी पोद्दार भी अच्युत मुनि के भक्त थे। उनके आमंत्रण पर स्वामीजी वर्धा गये तो श्री स्वतःप्रकाशजी स्वामी को भी साथ ले गये। वहाँ वर्धा में समर्थ गुरु रामदासजी के मठ में हमारे स्वामी स्वतःप्रकाशजी ने "श्रीराम जय राम जय जय

राम" का अखण्ड कीर्तन देखा। वहाँ का वातावरण भक्तिमय था। वहीं पर बंगाल की "अमृत बाजार पत्रिका" के सम्पादक महात्मा शिशिरकुमार घोष की श्री चैतन्य महाप्रभु की "लार्ड गौराङ्ग" नाम की दो भागों मे लिखी हुई अँगरेजी की जीवनी मिली।

उसके पढ़ते ही इनके भीतर अवरुद्ध जो भक्ति का स्रोत था, वह परिस्फुट हो गया। वहाँ ये लज्जा छोड़कर कीर्तन करने लगे। महाप्रभु के चरित्र की कथा कहने लगे। वहीं श्री स्वामी अच्युत मुनि से इनका मतभेद हो गया। ये पुनः गँवे में आ गये। गँवे मे आकर तो इनके सिर पर भक्ति का भूत ही सवार हो गया। हरि-हरि कहकर नाचने लगे, लड़कों के साथ कीर्तन करने लगे। हरि बोल हरि बोल कहकर उच्च ध्वनि करने लगे। तभी सब लोग इन्हें हरिबाबा-हरिबाबा इस नाम से पुकारने लगे। साधुओं के नाम ऐसे ही प्रसिद्ध होते हैं। उडीसा प्रान्त के होने से उड़िया बाबा, बंगाल के होने से बंगाली बाबा, पंजाब के होने से पंजाबी बाबा, फलाहार करने से फलाहारी बाबा, मौन रहने से मौनी बाबा ऐसे लोग अपने आप पुकारने लगते हैं। अब हरिबाबा वहाँ के ग्रामीण अनपढ़ लोगों को साथ लेकर हरे राम महामन्त्र का कीर्तन करने लगे। उस प्रान्त के लिये यह एक नई बात थी। विद्वान् लोग इसे अशास्त्रीय बताकर विरोध करने लगे। अद्वैत वेदान्ती इसे अनपढ़ों का तमासा बताने लगे। किन्तु श्री हरिबाबा ने एक की भी नहीं सुनी। वे अपनी धुनि में ही तल्लीन रहे। जब कीर्तन से रामेश्वर अच्छा हो गया, तब तो सबका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। रामेश्वर की बीमारी में ही मुझे सर्वप्रथम उनके दर्शन हुए। फिर तो जो घनिष्टता बढ़ी वह जीवन पर्यन्त बढ़ती ही गई। वे मुझसे कितना स्नेह

करते थे, कितना चाहते थे, मेरे हृदय में उनके प्रति कितना आदर था, इसे दूसरे लोग नहीं जानते थे। वे अनेकों बार आकर मेरे पास रहे। उनमें एक विशेषता थी, वे स्वतः कोई कार्य नहीं करते थे, किसी को माध्यम बनाकर उनके द्वारा कार्य कराया करते थे। मैंने अनेकों को उन्हें माध्यम बनाते देखा है। जिसे माध्यम बनाते उसे अत्यधिक आदर देते और कराते थे उनसे मन की बात। पहिले एक बंगाली स्वामी को माध्यम बनाया, फिर एक दूसरे को, कुछ दिन हमारे वृन्दावन के रघुनाथाचार्य को बनाया। कहाँ तक गिनावें। सबसे अधिक पूज्यपाद श्री उड़ियाबाबाजी ने निभाया और सबसे अन्त में श्री श्री माँ आनन्दमयी ने।

वे मुझसे भी अत्यन्त स्नेह करते थे। उनकी इच्छा थी हम और वे सदा साथ ही रहें। कभी-कभी महीनों आकर झूसी आश्रम में भी रहे। कई बार कहा भी—"अब तो हम सब कुछ छोड़कर श्री ब्रह्मचारीजी के चरणों में ही रहेंगे। उन्हीं की आज्ञाओं का पालन करेंगे।" मैं हँसकर कह देता—महाराज, यहाँ आपकी दाल गलने की नहीं। मुझमें इतनी योग्यता नहीं, जो मैं आपको निभा सकूँ।

वास्तव में उनको निभाना सहज नहीं था। उनके सत्संग में एक मिनट भी पीछे पहुँचो तो अप्रसन्न। उनके सत्संग से एक मिनट पहले चले आओ तो बड़े दुखी। वे घड़ी के कांटे पर कार्य करते थे। श्री उड़ियाबाबा उन्हीं के कारण घड़ी रखने लगे। उन्होंने हरिबाबा को एक प्रकार से आत्मसमर्पण ही कर दिया था। श्रीहरिबाबा जिससे प्रसन्न हों, वह करना, जो वे कह दें वही ठीक। जीवन पर्यन्त दोनों की ऐसी निभी कि किसी की ऐसी निभनी असंभव है। मैं तो सात जन्म में भी इस प्रकार नहीं

निभा सकता था। मेरा जीवन क्रम दूसरा ही है। श्री श्री आनन्दमयी माँ से उनका परिचय सर्वप्रथम मैंने ही सहस्र धारा पर कराया था। पीछे मा ने भी लगभग उड़िया बाबाजी की भाँति निभाया और उन्होंने अपना अन्तिम लीला संवरण भी मा आनन्दमयी आश्रम वाराणसी में ही की। उनसे सम्बन्धित मेरे जीवन में अनेक सुखद संस्मरण हैं, जिनका उल्लेख समय-समय पर अन्य संस्मरणों में मैं करता रहूँगा। यहाँ तो प्रसंगवश ये बातें लिख दीं।

उन दिनों अनूप शहर के आस पास बहुत से प्रसिद्ध महात्मा निवास करते थे। रामघाट में पूज्य श्री उड़ियाबाबा, बिहार घाट में स्वामी शंकरानन्दजी, कर्णवास में स्वामी निर्मलानन्द, बंगाली स्वामी तथा और भी बहुत से विरक्त महात्मा। भैरिया में बंगाली स्वामी श्री शास्त्रानन्दजी, उससे आगे स्वामी हीरानन्दजी, फिर अनूप शहर में बहुत से महात्मा रहते थे। आगे पेटपाल की कुटी पर भगवानपुर में दक्षिणी स्वामी हीरादासजी। इस प्रकार गंगा किनारा महात्माओं की खान थी। मेरे देखते-देखते इन पचास, साठ वर्षों में ही कितना परिवर्तन हो गया। गंगा किनारा जो महात्माओं का राजपथ था, जिसमें गंगाजी के प्रवाह के साथ महात्माओं के प्रवाह की एक धारा बहती थी। वह धारा अब बन्द हो गयी।

जिन दिनों वे रामेश्वर को निमित्त बनाकर अनूप शहर की गौरीशंकर गोयनका धर्मशाला में अखंड कीर्तन करा रहे थे। उसी समय मेरा उनसे परिचय हुआ। तब तक मैं श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता था। वे गंगा किनारे एक अड्डे पर किसी उर्दू पुस्तक की कथा किया करते थे, उनके प्रधान श्रोता थे हमारे पंडितजी बद्रीदत्तजी। मैं कभी कभी

उसमें जाता था। कथा सुनते सुनते पंडितजी रोने लगते। एक तो मैं व्रत के कारण असक्त हो गया था, दूसरे संस्कृत का विद्यार्थी होने के कारण उर्दू पुस्तक की कथा में मेरी श्रद्धा नहीं थी। यह मैंने पहिले ही पहिल देखा, कि उर्दू हिन्दी की पुस्तक की भी कथा हो सकती है क्या? मैं तो कथा का अर्थ संस्कृत की भागवतादि पुराणों के प्रवचन को ही समझता था। मैं जानता भी नहीं था, वे किसकी कथा कह रहे हैं। पीछे पता चला महात्मा शिशिरकुमार घोष की जो बँगला में "अमियनिमाई चरित" नाम से चैतन्य महाप्रभु का छः भागों में जीवन चरित है। उसी के दो भागों का किसी ने उर्दू में अनुवाद किया है। श्री हरिबाबाजी उसी की बड़ी भावुकता से कथा कहते थे।

मैं व्रत के कारण दुर्बल हो गया था, अतः श्रीहरिबाबाजी के सत्संग में अधिक सम्मिलित न हो सका। अमावास्या को मेरा व्रत समाप्त हुआ। लाला कुन्दनलालजी की बहुत इच्छा थी, कि वे मेरी कुछ सेवा करें, किन्तु व्रत के दिनों में वे सेवा ही क्या करते। व्रत समाप्ति के दूसरे दिन उन्होंने दलिया बनवाया। एक महीने के पश्चात् नमकीन दलिया अमृत के सदृश लगा। थोड़ा करते-करते भी मैं बहुत खा गया। पेट में अन्न पहुँचते ही सोई हुई भूख जाग उठी। अब क्या करें। दूध पीया। फिर भी भूख नहीं गयी। पेड़ा खाये, भूख और बढ़ी शाम को दलिया खाया, फल भी खाये, खाते ही रहे। परिणाम यह हुआ कि रात्रि में कै दस्त हो गये। ऐसा पता चला अब मृत्यु हो जायगी, किन्तु संस्कार शेष थे। भगवान् को तो भागवती कथा लिखानी थी। मरा नहीं बच गया। फिर शनैः-शनैः डर-डरकर खाने लगा। १०-१५ दिन में अपने पूरे आहार पर आ गया। सबसे मिल भेंट कर विदा लेकर मैं पुनः खुरजा लौट आया।

कारावास में काशी के सभी स्नेही बन्धुओं का आग्रह था, कि मैं काशी आकर रहूँ। मेरा भी मन काशी वास के लिये छटपटा रहा था। बाबू सम्पूर्णानन्दजी का अत्यन्त आग्रह था, उन्हीं का स्नेह मुझे काशी ले गया। काशी जाने के पूर्व संयुक्त प्रदेशीय राजनैतिक सम्मेलन देहरादून में होने वाला था, इसीलिये मैंने एक बार देहरादून जाने का निश्चय किया।

अँगरेजी मास अक्टूबर सन् २२ स्यात् कार्तिक का महीना था। प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन के सभापति त्यागमूर्ति पं० मोतीलालजी नेहरू चुने गये थे। उसमें प्रायः सभी नेता आये थे। बड़े डाक घर के सामने मैदान में पडाल बना था। मंच पर पं० जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, उनकी पुत्री पद्मजा नायडू, काशी के श्री शिवप्रसादजी गुप्त तथा अन्यान्य बहुत से नेता बैठे थे। स्त्रियों के बैठने का प्रबन्ध पृथक् था, पुरुषों का पृथक्। पंडितजी ने कहा—"यह पुरानी परिपाटी छोड़ो सब एक साथ मिलकर बैठो। इतना सुनते ही सब स्त्री पुरुष मिल-जुलकर बैठ गये। मुझे यह अच्छा नहीं लगा। क्या-क्या प्रस्ताव पारित हुए मेरा मन उधर नहीं था। मैंने हिमालय के दर्शन पहिले ही पहिल किये थे। देहरादून से राजपुर जाते हुए जो छोटी छोटी हरी भरी पहाड़ियों की शोभा देखी मेरा मन मयूर आह्लाद में भरकर नृत्य करने लगा। मुझे अनुभव होने लगा। स्वर्ग यही है। हिमालय ने मेरे मन को मोह लिया। मैं सोचने लगा—"जीवन भर मुझे यहीं रहना हो, तो कितना अच्छा है।" उन दिनों पक्की सड़क राजपुर तक ही थी। मसूरी को पैदल या घोड़े पर जाना पड़ता था। पैदल चलने में इतना आनन्द आया, कि थकावट प्रतीत ही न हुई। एक पैसे के दो या चार बड़ी-बड़ी पहाड़ी केलों की फली मिलती थीं। मेरा सबसे प्रिय आहार यही

था। हिमालय की सुषमा देखते-देखते मेरा मन भरता ही नहीं था। तभी मैंने गंगाजी के उस पार कांगड़ी गाँव में फूँस की कुटियों में बसे गुरुकुल कांगड़ी को देखा। वहीं महात्मा मुन्शी लाल (स्वामी श्रद्धानन्दजी) के भी दर्शन किये। हमारे साथ में जौनपुर के एक ठाकुर साहब तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक पं० चतुरसेनजी शास्त्री भी थे। गुरुकुल ज्वालापुर भी देखा। ज्वालापुर में एक देवीजी का आश्रम देखा। वहाँ पर हमारे सब साथियों ने उन देवीजी को अच्छा छकाया। शास्त्रीजी ने उस पर एक कथा भी लिखी है। इस प्रकार वहाँ की सब प्रसिद्ध संस्थाओं को देख भालकर हम फिर खुरजा आ गये और वहाँ से कुछ दिन इधर-उधर घूम घामकर काशी के लिये चल दिये।

हाँ, एक बात भूल गया। देहरादून राजनैतिक सम्मेलन में ही मुझे ज्ञान मण्डल और काशी विद्यापीठ के संस्थापक दानवीर श्री शिवप्रसादजी गुप्त के दर्शन हुए। ज्ञान मंडल से दैनिक "आज" के साथ ही एक "मर्यादा" नाम की मासिक पत्रिका भी निकलती थी। पहिले इसे प्रयाग से पं० कृष्णकान्तजी मालवीय निकालते थे। उन्हीं से ज्ञान मण्डल वालों ने ले ली। हमारे बाबू सम्पूर्णानन्द उसी "मर्यादा" के सम्पादक थे। जब वे जेल में थे तब मुन्शी प्रेमचन्दजी उसके स्थानापन्न संपादक हुए थे। गुप्तजी बड़े ही उत्साही समाज सेवी थे। हिन्दु विश्व विद्यालय की स्थापना में उन्होंने मालवीयजी का तन, मन तथा धन से सहयोग दिया था। वे मालवीयजी के अनन्य भक्तों में से थे। यद्यपि असहयोग आन्दोलन में उनका मालवीयजी से मत-भेद हो गया था, फिर भी उनकी भक्ति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं हुआ। देहरादून में उनसे मेरी खुलकर बातें हुईं। मैंने काशी आने की वहाँ दर्शन शास्त्र अध्ययन की अपनी इच्छा प्रकट की।

उन्होंने सहर्ष मेरी इच्छा का अनुमोदन किया और मुझे ज्ञान मण्डल में कुछ काम देने का भी वचन दिया। इसी से प्रेरित होकर मैं काशी पहुँच गया। अब काशी के संस्मरण अगले अंक में पढ़िये।

छप्पय

भाग्य कहाँ ले जाइ न नर निश्चय जिह जानै।
मैं कर्ता सब करूँ व्यरथ में मानव मानै॥
करवावै करतार कर्म के वे है स्वामी।
नर नहिँ चाहै करन करावै अन्तरजामी।
इच्छा अपनी नहिँ रखै, आत्म समरपन नर करै।
वही सुखी अरु शान्त है, अमर होइ नहिँ सो मरै॥

आषाढ़ कृ० ५।२०२६
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
प्रयाग

प्रभुदत्त

व्रतमीमांसा तथा प्राणों की श्रेष्ठता

(२१४)

अथातो व्रतमीमाँसा प्रजापतिर्ह कर्माणि
ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त ॥*
(बृ० उ० १ अ० ५ ब्रा० २१ मन्त्रांश)

छप्पय

व्रत बिचार अब करें प्रजापति करननि कीन्हों।
सब इसपर्धा करें बाक बोलन व्रत लीन्हों॥
चक्षु, श्रोत्र व्रत लयो सतत हम दिखि हैं सुनि हैं।
यों सबने व्रत लयो मृत्यु श्रम बनि अवरुधि हैं॥
नेत्र, श्रोत्र वाणी तबहिँ, सब इन्द्रिय होवैं श्रमित।
किन्तु न होवै श्रमित यह, मध्यम प्राण चलै सतत॥

यह सम्पूर्ण जगत् प्राणमय है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें प्राण न हो। प्राण के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं। जिन कंकड़ पत्थरों को आप निष्प्राण कहते हैं, उनमें भी सूक्ष्म रूप से प्राण हैं। जब सभी में प्राण हैं, तो जड़-चैतन्य,

---

* वाणी, मन और प्राण इन प्रजापति के तीनों अन्नों का समान वर्णन करके प्राण की श्रेष्ठता सिद्ध करने को व्रत की मीमांसा करते हैं। प्रजापति ने कर्मों को करने के निमित्त कर्मों के साधनभूत इन्द्रियों की रचना की।

सजीव-निर्जीव, स्थावर-जंगम का भेद क्यों है ? सबको सजीव, चैतन्य और जंगम कहो ? जड़ता और चैतन्यता अपेक्षाकृत है। जिन में प्राणों का प्रकाश अत्यन्त सूक्ष्म है, उनको जड़ कह दिया, जिनमें उनसे अधिक प्राणों का प्रकाश है उन्हें स्थावर वृक्ष आदि कह दिया। जिनमे उनसे भी अधिक प्राणों का प्रकाश है, उन्हें कीट पतंग, मछली आदि कह दिया। इस प्रकार चैतन्यता अपेक्षाकृत है, पात्र भेद से उसकी जहाँ जैसी अभिव्यक्ति हुई उसकी वैसी संज्ञा कर दी। जैसे सूर्यनारायण का प्रकाश सब पर समान पड़ता है, किन्तु पात्र भेद से अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न वस्तुओं मे भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। हम घर में बैठे हैं, हमारी दीवाल पत्थर की है, तो उनमें पत्थर के कारण कम प्रकाश जायगा, यदि दिवाल बाँस की टटिया की है, तो उनमें अधिक प्रकाश जायगा और दिवालें काँच की होगी तो और अधिक प्रकाश पहुँचेगा। इसी प्रकार जिसका अन्तःकरण अधिक निर्मल होगा उसमें बुद्धि का प्रकाश अधिक होगा, जिनका अन्तःकरण तमावृत होगा उनमें कम पड़ेगा। यही दशा प्राणों की है। सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम प्राण सभी में हैं। इसीलिये ये सभी जगत् के पदार्थ प्राणी कहलाते हैं। अंडज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज ये तो प्रत्यक्ष प्राणवान् हैं। जड़ कहलाने वालों में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में प्राण हैं। इससे सिद्ध हुआ यह जगत् प्राणमय है। प्राण ही परमात्मा का रूप है अतः वह प्राणाधार, प्राणपति प्राणमय है। इसीलिये उपनिषदों में बारम्बार प्राणों की श्रेष्ठता सिद्ध करके प्राणोपासना को अधिक महत्व दिया गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब तक वाक्, मन और प्राण

जो प्रजापति के अन्न बताये गये हैं, उनके सम्बन्ध में कहा गया। अब व्रत के ऊपर मीमांसा करते हैं ।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी व्रत क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जो नियम संयम वरण किया जाय-स्वीकार किया जाय, उसे व्रत कहते हैं । जैसे पुण्य पर्वों पर पुण्य प्राप्ति के हेतु उपवासादि किये जायँ, उसका नाम व्रत है । दूसरे कोई नियम धारण किया जाय, उसे भी व्रत कहते हैं। जैसे कोई नियम करले आज से मैं बोलूँगा नहीं। यह मौनव्रत है। आज से मैं बैठूँगा नहीं। यह खड़ेश्वरीव्रत है। आज से अपनी बाहु को नीचा नहीं करूँगा यह ऊर्ध्वबाहु व्रत है। यहाँ पर व्रत शब्द से ऐसे ही नियम से तात्पर्य है। इन्द्रियों ने भी ऐसा ही व्रत किया था।"

शौनकजी ने पूछा—"यह अप्रासंगिक व्रत मीमांसा यहाँ क्यों आरम्भ की गयी ?"

सूतजी ने कहा—"अप्रासंगिक कैसे है महाराज ! अब तक वाक्, मन और प्राण का सामान्य रूप से उपास्यत्व कहा गया था, अब प्राणों का उपास्यत्व विशेष रूप से कहना है। प्राण को सभी इन्द्रियों से श्रेष्ठ करना है। जब तक परस्पर में झगड़ा न हो, सब एकमत से किसी को श्रेष्ठ न मान लें तब तक निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिये सब इन्द्रियों में परस्पर कलह हुई। सभी अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने का अपना-अपना व्रत मानकर अड़ गये। इस अड़ने में जो सबसे आगे निकल जाय, वही सबसे बड़ा हुआ। इसीलिये सभी इन्द्रियों के अड़ंगे का वर्णन इस व्रत मीमांसा में करना है।"

शौनकजी ने कहा—"ठीक है, कहिये इन्द्रियों के अड़ंगे की कहानी।"

सूतजी ने कहा—'सुनिये महाराज ! प्रजापति भगवान् ने सम्पूर्ण प्रजा की रचना की। श्रोत्र, त्वक , नेत्र, जिह्वा, नासिका, पायु, उपस्थ, पाणि, पाद और वाणी इन कमरूप इन्द्रियों की भी रचना की। इन्द्रियाँ वेसे तो करण हैं, किन्तु कर्मों के साधन होने के कारण इन्हे उपचार स कर्म कह दिया।"

ब्रह्मा ने इनमे स किसा का वडा छोटा पद तो दिया नहीं था। इसलिये ये सभी अपने को सवश्रेष्ठ समझने लगीं। सभी सोचने लगीं—मेरा ही कार्य परमावश्यक हे। मेरे बिना शरीर का कार्य नहीं चलने का। इस प्रकार सभी परस्पर मे एक दूसरी से स्पधा-डाह-करने लगी। अपने अपने कार्यों को महत्वपूर्ण सिद्ध करने के निमित्त सभी ने भिन्न भिन्न व्रत धारण कर लिय। वाणी ने व्रत लिया—मैं सदा वोलती ही रहूँगी।

चक्षु इन्द्रिय ने व्रत लिया—में सदा देखती ही रहूँगी। इसी प्रकार श्रोत ने सदा सुनने का, जिह्वा ने सतत रसास्वादन का, नासिका ने सदा सूँघते रहने का, इसी प्रकार सभी ने अपना अपना व्रत ले लिया। सभी अपनी अपनी डेढ़ चावल की पृथक् पृथक खिचडी पकाने लगीं, सभी अपनी अपनी ढपली लेकर अपना अपना पृथक् राग अलापने लगीं।

ब्रह्माजी ने देखा—ये तो सभी धरना देने लगीं। सृष्टि के कार्य में रोडा अटकाने लगीं। तब उन्होंने लोकपालों से सम्मति ली अब क्या करना चाहिये ? इस पर यमराज ने कहा—"मेरे मन्त्री मृत्यु से कहो इन सबको मार डालें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भाई, मारने मे कैसे काम चलेगा ? सृष्टि आगे कैसे बढेगी। कोई दूसरा उपाय सोचो।"

यमराज ने कहा—"इन मृत्यु शर्मा स ही पूछिये।"

ब्रह्माजी ने मृत्यु से पूछा—"भैया, ये इन्द्रियाँ तो सृष्टि कार्य

में अड़ंगा लगाकर-एक दूसरे से स्पर्धा करती हुई निरन्तर अपना-अपना ही राग अलाप रही हैं। इन्हें बन्द करने का कोई उपाय सोचो।"

मृत्यु ने कहा—"मैं श्रम बनकर गुप्त रूप से इनमें प्रवेश करता हूँ। जब ये बोलते-बोलते, सुनते-सुनते श्रमित हो जायँगी अपने आप रुक जायँगी।"

ब्रह्माजी ने कहा—"यह तुमने बहुत सुन्दर उपाय सोचा। अब तुम श्रम बनकर इनमें प्रवेश कर जाओ।"

प्रजापति की आज्ञा पाकर मृत्यु ने श्रम का रूप बनाकर उनसे सम्बन्ध स्थापित किया। इन्द्रियाँ इनके यथार्थ रूप को समझ नहीं सकीं कि ये मृत्यु देवता हैं। श्रम से सम्बन्ध करना सबने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इससे श्रम उनमें व्याप्त हो गया। जो कपट सम्बन्ध करके भीतर घुस जाता है, वह अवरोधक सिद्ध होता है। अब तो वाणी बोलते-बोलते श्रमित होने लगी। उसे विश्राम की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अतः विश्राम करने को चुप हो गयी। तभी से वाक्, नेत्र, श्रोत्रादि इन्द्रियाँ श्रमित होने लगीं।

मृत्यु श्रम का रूप रखकर शरीर के मध्य में विचरण करने वाले मुख्य प्राण के भी समीप गया। प्राण तो उसे ताड़ गये, कि यह मुझे फँसाने आया है। मृत्यु ने बहुत-सी मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातें बनायीं, किन्तु प्राण ने उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। वे चुपचाप अपने कार्य में लगे ही रहे। तब अपनी दाल वहाँ गलते न देखकर मृत्यु चुपचाप वहाँ से लौट गये। प्राण ने उनसे सम्बन्ध स्थापित ही नहीं किया, अतः प्राण में श्रम व्याप्त न हो सका। जब अन्य सब इन्द्रियाँ तो अपने-अपने कार्यों में श्रमित होकर सोने लगीं और प्राण कभी

भी बिना श्रमित हुए सतत चलता ही रहा, तो सबने इसका कारण जानकर यही निश्चय किया कि हम सबमे प्राण ही श्रेष्ठ हैं, जो संचार करते और न सचार करते कभी भी व्यथित नहीं होता। साधारण लोगों का प्राण सदा चलता रहता है, वह मन्द नहीं होता। मरते समय प्राण शरीर से निकल कर दूसरे में चले जाते हैं। सदा चलते रहने पर प्राण श्रमित नहीं होता। योगी लोग प्राण को रोककर बिना सञ्चार के वर्षों पडे रहते हैं। उस दशा में भी प्राण न व्यथित होता है न क्षीण ही होता है। ऐसा निश्चय करके सब इन्द्रियों ने प्राण का श्रेष्ठत्व सर्वसम्मति से सादर सहर्ष स्वीकार कर लिया। यही नहीं, सबने सर्व-सम्मति से यह भी स्वीकारा, कि आज से हम सब भी इसी के रूप मे मिल जायँगी। जैसे एक सेनापति के नाम से ही पूरी सेना का बोध होता है, उसी प्रकार ये सभी इन्द्रियाँ 'प्राण' इसी नाम से पुकारी जाती हैं। प्राण जहाँ से निकलता है उसके साथ ही समस्त इन्द्रियाँ भी निकल जाती हैं। प्राण जहाँ प्रवेश करता है उसी मे सभी इन्द्रियाँ भी प्रविष्ट हो जाती हैं। समस्त इन्द्रियाँ प्राण के ही नाम से पुकारी जाती हैं। जो इस बात को भली भाँति जानकर प्राण की इस भाव से उपासना करता है, वह जिस कुल में होता है, उसमे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है वह कुल उसी के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है, जैसे रघु के नाम से रघुकुल आदि-आदि।

इसके विपरीत जो ऐसे विद्वान् उपासक से स्पर्धा करता है, वह सूख जाता है और अन्त में मृत्यु के मुख में चला जाता है, काल कवलित हो जाता है—मर जाता है। यही अध्यात्म प्राण दर्शन है।

शौनकजी ने कहा—"यह तो प्राण का अध्यात्म दर्शन हुआ अब इसका आधिदैविक रूप भी तो सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इसका वर्णन तो अध्यात्म प्राणोपासना के अनन्तर श्रुति स्वयं ही करती हुई कहती है—अब आधिदैव को बताते हैं। जैसे इन्द्रियों ने अपना-अपना कार्य निरन्तर करते रहने का व्रत लिया था। वैसे ही अग्नि आदि देवताओं ने भी व्रत लिया।"

शौनकजी ने पूछा—"देवताओं ने क्या व्रत लिया?"

सूतजी ने कहा—"यही व्रत लिया, कि अग्निदेव ने कहा—"मैं सदा जलता ही रहूँगा।" सूर्य ने व्रत लिया—"मैं सदा तपता ही रहूँगा।" चन्द्रमा ने व्रत लिया—"मैं सदा प्रकाशित ही होता रहूँगा।" कहाँ तक गिनावें समस्त देवताओं ने अपने-अपने कार्य के अनुसार सतत कार्यरत होने का व्रत ले लिया। ब्रह्माजी ने पुनः इनके पास मृत्यु को भेजा। मृत्यु श्रम का रूप रखकर इनके पास गये। इनसे सम्बन्ध स्थापित करके इनके शरीरों में प्रवेश कर गये। एक वायु देवता ही इनके चक्कर में नहीं फँस सके। शरीर के भीतर वाक् आदि इन्द्रियों में मुख्य प्राण हैं, उसी प्रकार देवताओं में ये वायु देव हैं। शरीर के भीतर विचरण करने वाली वायु को प्राण कहते हैं और बाहर विचरण करने वाले अनिल का नाम वायु है। इसीलिये अन्य देवतागण तो समय-समय पर अस्त हो जाते हैं, किन्तु वायु कभी अस्त नहीं होते वे सतत चलते ही रहते हैं। एक वायु ही ऐसे देव हैं जो अस्तता को प्राप्त नहीं होते। दश बाहरी इन्द्रियाँ हैं, चार भीतर की इन्द्रियाँ-अन्तःकरण—हैं। इस प्रकार चौदह इन्द्रियों के चौदह ही अधिष्ठातृ देव हैं। जैसे (श्रोत्र के) दिशा, (प्राण के) वायु, (नेत्र के) सूर्य, (जिह्वा के) वरुण, (घ्राण के) अश्विनीकुमार, (वाणी के)

अग्नि, (हाथ के) इन्द्र, (पैर के) उपेन्द्र, (पायु के) मृत्यु, (मन के) चन्द्रमा, (उपस्थ के) प्रजापति, (बुद्धि के) ब्रह्मा, (अहंकार के) रुद्र और (चित्त के) क्षेत्रज्ञ। जैसे समस्त इन्द्रियों में प्राण श्रेष्ठ हैं यह ता प्राणों का आध्यात्मिक रूप हुआ उसी प्रकार इन इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं में वायु सर्वश्रेष्ठ हैं। स्पर्श आधिभौतिक रूप हैं, वायु आधिदैविक हैं और प्राण आध्यात्मिक रूप हैं। अतः प्राण वायु का संयम करके ब्रह्म स्पर्श को प्राप्त करना चाहिये। वायु ब्रह्म का ही रूप है। इसी के अर्थ को प्रकाशित करने वाला एक मन्त्र है–मन्त्र मे कहा गया है–"सूर्य जहाँ से उदित होते हैं, और जहाँ पर जाकर अस्त हो जाते हैं। इत्यादि" इस आधे मंत्र का अर्थ श्रुति बताती है-यह सूर्य देव प्राण से (अर्थात् वायु द्वारा) ही उदित होते हैं और प्राण में (वायु मे) ही अस्त होते हैं। यह तो उक्त मंत्र के पूर्वार्द्ध का अर्थ हुआ। अब मन्त्र का उत्तरार्ध कहते हैं—"देवताओं ने उसी प्राण की उपासना रूप धर्म को श्रेयस्कर समझकर किया है।" वही प्राणोपासना धर्म आज भी है और वही धर्म कल भी रहेगा अर्थात् प्राणोपासना रूप धर्म आज भी अनुष्ठान करने योग्य है और कल भी अनुष्ठान करने योग्य रहेगा इस उत्तरार्ध का अर्थ बताते हुए श्रुति कहती है—"देवताओ ने विवाद होने पर इन प्राण देवता को मुख्य मान कर उस समय उन्हे सर्वश्रेष्ठ करके धारण किया था, उनका वह सर्वश्रेष्ठत्व आज भी है। अर्थात् आज भी उन्हे सर्वश्रेष्ठ मानकर उनकी उपासना करते हैं। अतः साधक को चाहिये कि एक ही व्रत का आचरण करे। अर्थात् एक मुख्य प्राणोपासना के ही व्रत का अनुष्ठान करे। प्राण और अपान के व्यापार को करे। अर्थात् प्राणायाम करें। भीतर से वायु को बाहर फेंकने वाली वायु को प्राण कहते हैं। बाहर की वायु को भीतर ले जाने को

अपान कहते हैं ! जिन्हें श्वास प्रश्वास भी कहते हैं। भीतर से बाहर श्वास छोड़े और बाहर से भीतर श्वास खींचे। इस प्रकार पूरक, कुंभक और रेचक तीन प्रकार के प्राणायम को करे। बाहर के वायु को भीतर भरने को पूरक कहते हैं। उसे जैसे वस्तु को घड़े में बन्द कर देते हैं, वैसे ही प्राणों को रोके रहे इसे कुंभक कहते हैं। फिर रुकी हुई वायु को शनैः शनैः छोड़े इसे रेचक कहते हैं। ऐसे ही प्राणों को निकाले भरे। इस भावना से इस प्राण अपान के व्यापार को करे कि कहीं मुझे पापी मृत्यु व्याप्त न करले। इसी भय से इस प्राणायाम व्रत का आचरण करे। एक बात का ध्यान रखे। इस व्रत को आरम्भ करे, तो इसे पूरा ही करके छोड़े। इसे समाप्त करने की ही इच्छा रखे। मध्य में विच्छेद न होने दे। बीच में छोड़ देने से प्राणों का पराभव होता है।

इस उपासना का फल क्या होगा ? इसको बताते हैं, कि इस प्राणोपासना रूप व्रत से इस प्राण देवता से सायुज्य और सालोक्य प्राप्त होता है। सायुज्य कहते हैं एक रूपता को। अर्थात् वह वायु का रूप हो जायगा और सालोक्य कहते हैं, एक ही लोक में समान भाव से साथ-ही-साथ रहने को। अर्थात् वह वायु लोक में निवास करेगा।

सूतजी कह रहे हैं—'मुनियो ! व्रत मीमांसा पूर्वक प्राणों की श्रेष्ठता बतायी। अब आगे जैसे इसी प्रथम अध्याय के छठे ब्राह्मण में नाम, रूप और कर्म के सम्बन्ध में बताया जायगा उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

——

छप्पय

प्रान रूप सब करन भये जो जाकूँ जानैं।
निज कुल ताके नाम चले सब तिहि यह मानैं॥
ऐसे ही सब देव लयो व्रत वायु प्रानवत।
स्वीकारयो सुर श्रेष्ठ वायु होवे न अस्त इत॥
उदय अस्त रवि वायुतैं, वायु नवनि तें श्रेष्ट है।
प्राणोपासन नित करै, प्रान-करन-सुर ज्येष्ट है॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय मे
पञ्चम ब्राह्मण समाप्त।

नाम, रूप, कर्म विवेचन

(२१५)

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति । एतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ॐ

(बृ० उ० १ अ० ६ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

नाम, रूप अरु कर्म तीनि समुदाय बताये ।
वाक उक्थ अरु साम ब्रह्म नामहिं कहलाये ॥
रूप चक्षु सामान्य उक्थ यह रूप प्रकट सब ।
यही साम सम रहे ब्रह्म यह धरै रूप सब ॥
नाम रूप व्याख्या करी, कर्म विवेचन सुनहु अब ।
कर्म देह सामान्य यह, उक्थ कर्म उत्पन्न सब ॥

इस दृश्य जगत् को-स्थाणु से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त जो संसार

ॐ इस जगत् में तीन ही समुदाय हैं । नाम, रूप और कर्म । इन समस्त नामों का 'वाक्' इस शब्द से निर्दिष्ट होता है । यही उक्थ है । क्योंकि इसी वाक् से समस्त नाम उत्पन्न होते हैं । यही वाक् इन नामों का साम भी है, क्योंकि यह सब नामों के सम है—तुल्य है । यही इन नामों का ब्रह्म भी है, क्योंकि यही समस्त नामों को धारण करता है ।

है- शास्त्रों ने विविध भाँति से नित्यात्मक सिद्ध किया है। तीन से ही यह सृष्टि हुई है, तीन में ही स्थित हैं और अन्त में तीनों का एक में ही समावेश हो जाता है। इस जगत् में भी तीन ही समुदाय है। नाम, रूप और कर्म। जगत् मे इन तीन के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इनका सम्बन्ध पीछे कहे हुए वाक्, मन और प्राण इन तीनों से भी है, नाम की अभिव्यक्ति वाणी से ही होगा। नाम का उच्चारण वाणी द्वारा होगा। सैकड़ों प्रकार के फल रखे हैं, जब तक वाणी से उच्चारण करके न बतावेंगे तब तक कैसे पता चलेगा यह आम है, यह जामुन है, यह कटहल है इत्यादि इत्यादि अब रहा रूप का, इसका सम्बन्ध नेत्र से है। नेत्र उपलक्षण मन का है, क्योंकि नेत्र मन की ही सहायता से देखता है, नेत्र मे स्वत देखने का सामर्थ्य नहीं 'चक्षु पश्यती रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा) अतः संसार में जितने भी रूप हैं उनका आधार चक्षु है। संसार में जितने भी कर्म किये जाते हैं, वे प्राण के ही आधार से किये जाते हैं। प्राण के बिना कोई कर्म सम्भव नहीं। अतः जैसे पीछे वाक्, मन और प्राण का महत्व बता आये हैं, यहाँ दृश्य जगत् में नाम, रूप और कर्म का महत्व बताना है।

वैदिक क्रियाओं में पीछे उक्थ, साम और ब्रह्म इन तीनों का वर्णन किया जा चुका है। (अथ य एषोऽन्तरक्षिणी पुरुषो दृश्यते सैवर्क् तत्साम तदुक्थं तद् यजुः तद् ब्रह्म) इन तीनों की भी नाम, रूप और कर्म से समता की गयी है, किन्तु यहाँ जैसे उक्थ साम समूह के स्तोत्रों का नाम है। साम से सामवेद और ब्रह्म से परमात्मा या वेद समूह अर्थ है वहाँ ये शब्द रूढ़ि हैं, किन्तु इसमें जो उक्थ साम और ब्रह्म का प्रयोग किया है यौगिक अर्थ में किया है। जैसे पीछे तो उक्थ शब्द सामवेद के मन्त्र समूह

जो उक्थ नाम के स्तोत्र हैं, उस अर्थ में है। यहाँ (उत् +स्था= इति उक्थ) जिससे उत्पन्न हो वह उक्थ है। इस प्रकार (सम एव=इति साम) जो बराबर हो इस अर्थ में साम लिया है। वहाँ ब्रह्म परमात्मा का नाम है। यहाँ ब्रह्म डुभृञ् धारण पोषण अर्थ में व्यवहृत होने वाली धातु से सिद्ध करके जो सबको धारण करे (सर्वाणि-बिभर्ति-इति ब्रह्म) इस अर्थ में प्रयोग किये हैं। दोनों का साम्य किया है अर्थात् जैसे वैदिक क्रिया में उक्थ, साम और ब्रह्म हैं। वैसे ही नाम में, रूप में तथा कर्म में इन तीनों में भी उक्थ, साम और ब्रह्म हैं। श्रुति स्वयं ही इनके भावार्थ को स्पष्ट करेगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त जो यह दृश्यमान जगत् है वह तीन पर ही अवलम्बित है, निर्भर है। तीन ही के समुदाय का नाम जगत् है।"

शौनकजी ने पूछा—"वे तीन कौन-कौन हैं ?"

सूतजी ने कहा—"वे तीन हैं, नाम, रूप और कर्म।"

शौनकजी ने पूछा—"नाम क्या ?"

सूतजी ने कहा—"नाम निर्वचन-जो वस्तु जिस नाम से पुकारी जाय उसे नाम कहते हैं। जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णु मित्र नाम हैं। यह देवदत्त है, यह इसका नाम है। यह देवदत्त ब्राह्मण है, ब्राह्मण इसके वर्ण का नाम है। यह देवदत्त गृहस्थ है गृहस्थ आश्रम का नाम है। यह धर्मात्मा है, यह गुण मूलक नाम है। कहाँ तक कहें वाणी से जो-जो भी शब्द निकले वे सबके सब नाम हैं। अतः नाम का उक्थ (उपादान कारण) वाणी है। क्योंकि संसार के समस्त स्थावर जंगम नाम वाणी से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे वाणी उक्थ (उपादान कारण) है वैसे ही यह वाणी साम भी है। वाणी ही सब नामों में समानता उत्पन्न

करती है। जैसे गौ कह दिया—तो जितनी सींग, थन और गले के सासनागलकनल—वाली जाती के पशु होंगे सबका बोध होगा। जैसे 'वर्णाश्रमी' नाम कह दिया—तो चारों वर्णों, चारों आश्रमों के अन्तर्गत जितने भी स्त्री पुरुष होंगे सभी का बोध होगा। इसीलिये यह नाम का उपादान कारण वाणी उक्थ के साथ-ही-साथ साम भी है। और ब्रह्म भी है। ब्रह्म कैसे है? ब्रह्म कहते हैं धारण करने वाले को। वाणी समस्त नामों को जिह्वा पर धारण करती है। जितने भी नाम हैं, यदि वाणी में धरे न रहे तो वाणी उसका उच्चारण कैसे करेगी। अतः नामों को निर्देश करने वाली वाणी उक्थ भी है साम भी है और ब्रह्म भी है। नाम का समुदाय कहकर अब रूप का समुदाय कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"रूप क्या?"

सूतजी ने कहा—"हरे, पीरे, लाल, सफेद, गुलाबी ये सब रूप ही हैं। रूप का सामान्य (उपादान कारण) अथवा उक्थ—चक्षु है। क्योंकि समस्त रूप आँखों से ही देखे जाते हैं आँख फूट जायँ या आँखों को बन्द कर लो तो कोई भी रूप दिखायी न देगा। अतः आँखें ही रूप का कारण हैं उक्थ हैं। ये ही रूप का साम भी हैं। साम क्यों हैं? क्योंकि आँखें ही रूपों में समता लाती हैं। जैसे आँखों ने एक आम का पेड़ देख लिया तो उसने समझ लिया संसार के समस्त आम के पेड़ ऐसे ही हरे पत्ते वाले, फल वाले होंगे। विविध भाँति के रूपों में समता लाने के कारण ये चक्षु ही साम भी हैं। और ये ब्रह्म भी हैं। ब्रह्म कैसे हैं, ये आँखें सब रूपों को धारण किये हुए हैं। आँखों में सब प्रकार के रूप धरे हुए न हों तो वे रूपों को देख कैसे सकती हैं। अतः रूप का उपादान कारण—चक्षु इन्द्रिय उक्थ भी है, साम भी है और ब्रह्म

भी है। अब नाम रूप के समुदाय को कहकर कर्म समुदाय का कथन करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"कर्म क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! पढ़ना पढ़ाना, जाना आना, बैठना उठना, चलना फिरना जितनी भी क्रियायें सबकी कर्म संज्ञा है। ये कर्म शरीर द्वारा ही हो सकते हैं, अतः कर्म का उपादान कारण–उक्थ–यह शरीर ही है। जितने भी कर्म हैं सब शरीर द्वारा (प्राण द्वारा) ही उत्पन्न होते हैं, (प्राणयुक्त) शरीर से ही कर्म संभव है। अतः कर्म का नामान्य कारण–देह है–आत्म है। वही शरीर इसका साम भी है। समस्त कर्मों में समता यह शरीर स्थापित करता है। रोटी ऐसे बनानी चाहिये, पीसना ऐसे चाहिये, खेती ऐसे करनी चाहिये एक काम को करके फिर उसके करने की क्रिया में समता स्थापित करता है। यह शरीर इस कर्म का ब्रह्म भी है, क्योंकि समस्त कर्मों को शरीर ही धारण करता है, सीखकर उसे करने की सामान्य क्रियाओं को धारण किये रहता है। (प्राणवान्) शरीर कर्म को धारण न करे, तो कर्म होने संभव ही नहीं। अतः कर्म का उक्थ, साम और ब्रह्म शरीर ही है। ये नाम, रूप और कर्म कहने को तीन हैं, किन्तु तीन होते हुए भी एक आत्मा है। और आत्मा भी एक होते हुए तीन हैं। प्राण अमृत है, नाम और रूप सत्य है–अर्थात् कर्म फल हैं। वह अमृत–प्राण, सत्य से–नाम रूप से ढका है।"

शौनकजी ने पूछा—"अमृत सत्य से आच्छादित है इसका क्या तात्पर्य है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! इसका अर्थ भगवती श्रुति ने स्वयं ही कर दिया है। श्रुति कहती है–कर्मरूप प्राण ही अमृत है। और नाम रूप इनकी सत्य संज्ञा है। अर्थात् यह प्राण–ब्रह्म

नाम रूप से आच्छादित है। नाम रूप के कारण इस प्राण रूप ब्रह्म को प्रत्यक्ष होने पर भी लोग देख नहीं सकते।"

शौनकजी ने पूछा—"जब प्रत्यक्ष है, तो देख क्यों नहीं सकते?"

सूतजी ने कहा "कोई राजकुमार है, गृह कलह के कारण उसकी धाई उसे छुपाकर व्याधों के गाँव में ले गयी। वहाँ उसने उसका राजोचित नाम भी छिपा लिया और महलों के सुख से वंचित रहने के कारण घोर जंगलों में रहने से उसका रूप भी काला पड़ गया। इसलिये सर्वसाधारण लोग उसे भी व्याध ही समझने लगे। क्योंकि उसका नाम रूप दोनों ही व्याधों के समान हो गया था। किन्तु जो बुद्धिमान थे, लक्षणज्ञ थे, वे उसके लक्षण आकृति को देखकर समझ गये ये इसके नाम रूप प्रच्छन्न हैं—बनावटी हैं। वास्तव में यह राजकुमार ही है। तो वे इसे पुनः राज्य सिंहासन पर लाकर प्रतिष्ठित कर देते हैं। इसी प्रकार यह प्राण रूप राजकुमार ब्रह्म नाम रूप वाले व्याध कुल में छिप गया है। सामान्य लोग तो नाम रूप के कारण इसे सामान्य प्राणी मानते हैं, किन्तु जो नाम रूप के ढक्कन को हटाकर इसके यथार्थ रूप को जान लेते हैं, उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार यह नाम रूप से आच्छादित इस कर्म रूप प्राण की उपासना करनी चाहिये इसके यथार्थ रूप का परिज्ञान करना चाहिये। ऐसे यह नाम रूप कर्म का विवेचन समाप्त हुआ। साथ ही बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय का छठा ब्राह्मण और प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ। अब द्वितीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में जैसे आत्मा का स्वरूप समझाने के निमित्त गार्ग्य और काशिराज महाराज अजातशत्रु का सम्वाद आरम्भ होगा, उस प्रकरण को मैं आप सबसे आगे कहूँगा। जिसमें राजर्षि काशिराज

महाराज अजातशत्रु ने गार्ग्य को आत्मा के यथार्थ स्वरूप का उपदेश दिया है। इस पुण्यमय आख्यान को आप सब महानुभाव दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

करमनि समता करै देह धारै करमनिकूँ।
नाम, रूप अरु करम तीन है एक नरनिकूँ॥
एकहि दीखें तीनि अमृत यह सत्य ढक्यो है।
प्रानहि है ये अमृत सत्य नामहि रूपहि है॥
ब्रह्म प्रानकूँ जानिकें, करै उपासन उपासक।
नाम रूप तैं ढक्यो है, पहिचाने साधक श्रेयक॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
छठा ब्राह्मण समाप्त।
प्रथम अध्याय समाप्त।

बृहदारण्यक–उपनिषद्
द्वितीय–अध्याय

गार्ग्य अजातशत्रु सम्वाद (१)

[२१६]

ॐ दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजात-
शत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः
सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना
धावन्तीति ।*

(बृ० उ० २ अ० १ ब्रा० १ मं०)

छप्पय

गार्ग्य दृप्त वाचाल जनक नृपके ढिँग आयौ ।
'ब्रह्मज्ञान उपदेश करूँ' सुनि नृप हरषायौ ॥
सहस धेनु हौं देउ जनक कहि सब जन दौरत ।
गार्ग्य कहे—'आदित्य पुरुष ब्रह्महि हौं मानत ॥
नृप अजातशत्रु कहै—उत्तम राजा शिर-सकल ।
होहि उपासकहू परम-श्रेष्ठ, दीप्तियुत भूप-मल ॥

---

* एक गर्ग गोत्रीय ऋषिकुमार दृप्त बालाकि था । वह काशिराज अजातशत्रु की सभा में जाकर उनसे बोला—"मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा । तब उस अजातशत्रु ने कहा—"आपके इस वचन के लिये मैं सहस्र गौएँ आपको देता हूँ ।" (जनक जिज्ञासु, दाता, ब्राह्मणों का आदर करने वाला है) ऐसा मानकर सब लोग जनक के यहाँ दौड़े जाते हैं ।'

प्रचीनकाल में पुस्तकी विद्या, विद्या नहीं मानी जाती थी, जो भी कुछ हो, सब कंठस्थ हो। राज सभाओं में पंडितों का शास्त्रार्थ ही होता था। जैसे किसी को कुक्कुट लड़ाने का व्यसन होता है, कोई साँड़ लड़ाते हैं, कोई मेढ़ा लड़ाते हैं। इसी प्रकार प्राचीन राजाओं को पंडितों के शास्त्रार्थ सुनने का व्यसन होता था। जैसे युद्ध प्रेमी राजा अपने यहाँ नामी-नामी मल्लों को रखते थे, उन्हें यथेष्ट खाने को पौष्टिक माल देते थे और बाहर से जो मल्ल आते थे, उनसे इनका द्वन्द्व युद्ध कराते थे। जैसा उन्हें द्वन्द्व युद्ध देखने में आनन्द आता था, वैसा ही विद्या व्यासंगी राजाओं को भी विद्वान् पंड़ितों के शास्त्रार्थ मे आनन्द आता था। प्रायः सभी धार्मिक राजा अपनी सभा में बहुत से विद्वान् शास्त्रार्थ कुशल ब्राह्मणों को रखते थे। वे राज सभा पंडित कहलाते थे। कोई-कोई विद्वान् राजा स्वयं भी पंडितों से शास्त्रार्थ किया करते थे। जो भी विद्वान् शास्त्रार्थ में जीत जाता था, उसे राजा की ओर से पारितोपिक दिया जाता था। उन दिनों गोधन ही सबसे श्रेष्ठ धन माना जाता था। राजा लोग कह देते थे—"जो विद्वान् मेरे इस प्रश्न का उत्तर देगा उसे मैं दश सहस्र, एक सहस्र या इतनी संख्या में गौ प्रदान करूँगा।" शास्त्रार्थ में तीन ही बात प्रधान मानी जाती थीं। इसे शास्त्रों का कितना ज्ञान है, इसकी तर्क शक्ति कितनी प्रबल है और यह कितना प्रत्युतपन्न मति है। इसके लिये कभी तो शास्त्र वचनों का अर्थ पूछते। उसके बताये अर्थ का खंडन करके दूसरा ही अर्थ बताते। कभी जैसे हम पहेली पूछते हैं वैसे पूछते-जैसे—

कहा न अबला करि सके, कहा न सिन्धु समाय।
कहा न पावक में जरे, काहि काल नहिं खाय॥

इस प्रकार की शास्त्रीय पहेली पूछते। कोई जो प्रश्न करते दूसरा उसे काट देता और यह सिद्ध करता, कि इसे तो मैं पहिले से ही जानता हूँ। यही नहीं मैं इससे अधिक भी जानता हूँ, यदि तुम इससे आगे जानते हो तो बताओ।

राजसभा मे सभी का प्रवेश सम्भव नहीं था। पहिले तो द्वार पर द्वारपाल ही उसे बहुत रखे जाते थे, कि राजसभा मे प्रवेश करने से पूर्व द्वारपाल को ही सन्तुष्ट करना पड़ता था। द्वारपाल ने सन्तुष्ट होकर राजा को सूचना द दी, तो सभा मे प्रवेश करने वाले पंडित को वहाँ जाकर राजा को सन्तुष्ट करना पड़ता था। राजा ने सन्तुष्ट होकर उसे सभासदों में बैठने की आज्ञा प्रदान कर दी, तब वह राजसभा के अन्य पडितों से शास्त्रार्थ करता था। कभी-कभी बहुत से पडित मिलकर उस पडित को पराजित करने का प्रयत्न करते थे। वैसे तो सभी राजाओं की राज सभाओं में पडित रहते थे, शास्त्रार्थ होते थे, किन्तु मिथिला के महाराज जनकों की राजसभा इसके लिये ससार मे विख्यात थी। जनक-वंश मे प्रायः जितने भी राजा हुए , वे सब-के-सब मोक्ष धर्म के ज्ञाता, शास्त्रज्ञ तथा ब्रह्मवादी थे। उनकी सभा मे भी बड़े भारी-भारी विद्वान् रहते थे और संसार भर के ज्ञानी ध्यानी वेदज्ञ शास्त्रार्थ करने, पंडितों को परास्त करने, दान दक्षिणा पाने तथा कुछ सीखने को आते थे। मिथिला के राजाओं के यहाँ अब तक यह प्रथा चली आती थी। अब जब राज्य ही नहीं रहे, तो राज्यसभाओं का, राजपडितों का और शास्त्रार्थों का भी प्रचलन समाप्त हो गया। महाभारत मे अष्टावक्र और बन्दी के शास्त्रार्थ का वन पर्व मे उल्लेख आता है। उससे तब की राजसभाओं का, राजपडितों का शास्त्रार्थों का अच्छा परिचय प्राप्त होता है

अतः बहुत ही संक्षेप में हम यहाँ उसका परिचय देते हैं। यह शास्त्रार्थ भी महाराज जनक की ही राजसभा में हुआ था।

महाराज जनक की राजसभा में वन्दी नाम के विद्वान् थे वे शास्त्रार्थ में जिसे पराजित कर देते, उसे नदी के पानी में जाकर डुबो देते। इसी प्रकार उसने कहोड़ नामक विद्वान् को जीतकर उन्हें जल में डुबो दिया था। कहोड़ की पत्नी गर्भवती थी। उसके आठ स्थान से टेढ़ा एक पुत्र कहोड़ के पीछे पैदा हुआ। उनका नाम अष्टावक्र रखा गया। अष्टावक्रजी ने जब अपने पिता का वृत्तान्त सुना तो वे राजा जनक की सभा में वन्दी से शास्त्रार्थ करने गये। उस समय उनकी अवस्था १०-११ वर्ष की थी, अत द्वारपाल ने इन्हें भीतर जाने ही नहीं दिया। तब इन्होंने अपने वाक्चातुरी से द्वारपाल को सन्तुष्ट किया, अब राजा को सन्तुष्ट करना था। इन्होंने जाकर राजा की प्रशंसा की। उनके धर्म कार्यों की सराहना की। और वन्दी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। राजा ने पूछा—"अच्छा बताओ-तीस अङ्ग, बारह अंश, चौबीस पर्व, तीन सौ साठ आरे, किस पदार्थ में हैं ?"

अष्टावक्र बोले—"ऐसा सम्वत्सर आपका कल्याण करे।"

राजा ने पूछा—"सोते समय आँखें कौन बन्द नहीं करता ?"

अष्टावक्र बोले—"वह मछली है।"

राजा—"उत्पन्न होने पर कौन नहीं चलता ?"

अष्टा०—"वह अंडा है।"

राजा—"हृदय किसके नहीं है ?"

अष्टा०—"पाषाण के नहीं है।"

राजा—"वेग से कौन बढ़ता है ?"

अष्टा०—"नदी वेग से बढ़ती है।"

इस प्रकार राजा को प्रसन्न करके अब उन्होंने वन्दी को लल-कारा। वन्दी ने कहा—"अग्नि, सूर्य, इन्द्र, यम एक हैं।"

अष्टा०—"इन्द्र अग्नि दो मित्र हैं, नारद और पर्वत दो सखा हैं, अश्विनीकुमार दो हैं, रथ के पहिये दो, स्त्री और पुरुष दो।"

वन्दी—"कर्म, वेद, स्नान, लोक और कर्म ज्योति तीन हैं।"

अष्टा०—"वर्ण, आश्रम, दिशा, गौ के पैर चार होते हैं।"

वन्दी—"अग्नि, पंक्ति छन्द, यज्ञ, इन्द्रियाँ, वेदमुक्ति, पंजाब की मुख्य नदियाँ ये ५ प्रकार की हैं।"

अष्टा०—"अग्न्याधान की दक्षिणा में गौदान, ऋतुएँ, इन्द्रियाँ, कृत्तिकायें, वेद में साधस्क यज्ञ विधान ये सब ६-६ प्रकार के हैं।"

वन्दी—"ग्राम्य पशु, वन पशु, छन्द, सप्तर्षि और वीणा के ार ये ७-७ होते हैं।"

अष्टा—"एक शतमान ने गोनी, शरभ के पैर, वसु, समस्त ...ों के यूप ये आठ-आठ होते हैं।"

वन्दी—"पितृ यज्ञ में सामधेनी, बृहती छन्द का प्रत्येक चरण, गणित के अङ्क ये ९-९ होते हैं।"

अष्टा०—"दिशायें, सौ में दशक, स्त्री पूर्ण गर्भ तत्वोपदेशक, अधिकारी और द्वेषी भी १०-१० हैं।"

वन्दी—"इन्द्रियाँ, विषय, प्राणियों के विकार और रुद्र ११-११ हैं।"

अष्टा०—वर्ष में मास, जगती छन्द के प्रत्येक चरण के अक्षर, प्राकृत यज्ञ पूर्ति दिवस और आदित्य ये १२-१२ होते हैं।"

वन्दी—"त्रयोदशी पुण्य तिथि है, पृथ्वी के तेरह द्वीप हैं— आगे वन्दी लड़खड़ा गया। आगे और कौन वस्तु १३ है यह वह तत्काल निर्णय न कर सका। तब उसकी बात को काटते हुए

अष्टावक्रजी ने कहा—"आत्मा के भोग १३ हैं, बुद्धि को लेकर तेरह उसको रोके हैं।"

अब आगे बन्दी कुछ न कह सका। वह पराजित हुआ। अष्टावक्र की जीत हुई इसी प्रकार के शास्त्रार्थ हुआ करते थे। गार्ग्य में और मैथिल जनक राजा अजातशत्रु में जो शास्त्रार्थ हुआ यह दूसरे प्रकार का था। गार्ग्य ने अपनी जानकारी बतायी। राजा ने कहा—"इसे मैं जानता हूँ, इससे ऊँची बात बताओ। तब उसने इससे भी ऊँची बात बताई।"

राजा ने कहा—"इसे भी मैं जानता हूँ, ऐसे करते-करते गार्ग्य चुप हो गया। उससे आगे का उपदेश राजा ने स्वयं गार्ग्य को किया। गार्ग्य ने राजा का शिष्यत्व स्वीकार किया। कैसा था उस समय का निश्छल कपट रहित सत्य व्यवहार। अब आप आगे जिस प्रकार गार्ग्य जनकी राजसभा में गये और पराजित होकर राजा का शिष्यत्व स्वीकार किया उस कथा को सुने।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! क्षत्रिय होकर भी अजातशत्रु राजा जनक ने गार्ग्य को जैसे उपदेश दिया–उस कथा को मैं आपको सुनाता हूँ।" आशा है आप इस पुण्यप्रद ब्रह्म विद्यामयी कथा को दत्त चित्त होकर श्रवण करेंगे—

एक गर्ग गोत्र में उत्पन्न होने वाले बालक ऋषि के पुत्र बालाकि नाम वाले ऋषिकुमार थे। अथवा बलाका इनकी माता का नाम रहा होगा। इन्होंने शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, कल्प, छन्द और ज्योतिष इन वेद के छेऊ अङ्गों सहित वेदों का अध्ययन किया था। किन्तु इन्हें अपनी विद्या का बड़ा अहङ्कार था। ये बड़े गर्वीले थे। इसोलिये ये दृप्त बालाकि गार्ग्य, इस नाम से प्रसिद्ध थे।

उन दिनों मिथिला में अजातशत्रु नामके राजा राज्य करते

थे। वे राजा बड़े सत्संगी, दानी, विद्वानों का आदर करने वाले तथा ब्रह्म विद्या में पारंगत थे। बड़े-बड़े विद्वान् सदा ही उनकी सभा में आते रहते और महाराज उनका दान मान द्वारा यथोचित सत्कार करते थे। उनके जिज्ञासुपने तथा दान की प्रशंसा सुनकर ये उनकी राजसभा में गये। विद्वान् तो थे ही। अतः इन्हें राजसभा में जाने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुई। द्वारपाल ने जाकर राजा को सूचना दी। राजा ने विद्वान् ब्राह्मण समझकर इन्हें तुरन्त बुलवा भेजा। ये राजा के पास गये। राजा ने इनका स्वागत सत्कार किया और कहा—"ब्रह्मन्! आपने दर्शन देकर मुझे कृतार्थ किया। अब कृपा करके आप बताइये मैं आपकी क्या सेवा करूँ? किस कारण आप ने कष्ट किया?"

राजा के नम्रता पूर्वक वचन सुनकर इन्होंने अभिमान में भर कर कहा—"मैंने आपकी राजन्! बहुत प्रशंसा सुनी है, क्या मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँ?"

राजा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"धन्यवाद! धन्यवाद! मेरा बड़ा सौभाग्य है जो आप मेरे यहाँ ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने स्वयं पधारे। "मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा।" इस शब्द को ही सुनकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। इसके उपलक्ष्य में मैं आपको सहस्र गौएँ प्रदान करता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"राजन्! अभी तो मैने आपको उपदेश दिया भी नहीं, फिर आप मुझे ब्रह्मज्ञान की दक्षिणा प्रदान क्यों कर रहे हैं?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं ब्रह्मज्ञान की दक्षिणा नहीं दे रहा हूँ। आपने यहाँ आकर मेरा सम्मान बढ़ाया मुझे जिज्ञासु श्रोता दानी समझकर मेरे यहाँ आये और मुझे ब्रह्मज्ञान का अधिकारी समझकर ब्रह्म विद्या प्रदान करने की इच्छा प्रकट की

इसी सम्मानयुक्त वाक्य के उपलक्ष्य में सहस्र गौएँ प्रदान कर रहा हूँ। ब्रह्मज्ञान की दक्षिणा तो मैं पश्चात् दूँगा। आप सब मुझे श्रोता समझकर दानी मानकर जनक के यहाँ चलो, जनक के यहाँ चलो ऐसा कहकर मेरे यहाँ के लिये दौड़-दौड़कर आते हैं, यह क्या मेरे लिये कम सौभाग्य की बात है। ऐसा सम्मान सभी भूपतियों को प्राप्त थोड़े ही होता है। आपने यहाँ पधार कर और मुझे ब्रह्मज्ञान का पात्र समझकर ब्रह्मविद्या प्रदान करने का शुभ संकल्प किया है उसी के निमित्त ये सहस्र गौएँ दे रहा हूँ। गोदान करके ही तो मैं ब्रह्मविद्या का श्रवण करूँगा।"

हाँ तो अब कहिये। आप किसे ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं?"

गार्ग्य ने कहा—"राजन्! यह जो आदित्य मण्डल में आदित्य नाम वाला पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ। उसी की उपासना तुम्हें भी करनी चाहिये।"

राजा ने कहा— 'ब्रह्मन्! आप यथार्थ कह रहे हैं, किन्तु इस विषय को तो मैं पहिले से ही जानता हूँ। इसे न कहकर इससे भी कोई ऊँची बात हो, तो उसे कहिये।"

गार्ग्य ने कहा—"इस विषय में आप क्या जानते हो?"

राजा ने कहा—"मैं यही जानता हूँ, कि यह सूर्य मण्डलवर्ती आदित्य समस्त भूतों का अतिक्रमण करके स्थित रहता है। यही सभी का शिरस्थानीय है—मस्तक है—तथा दीप्तिमान होने से राजा भी है। मैं तो इन्हें ऐसा ही मानता हूँ और ऐसा ही मानकर इनकी सतत उपासना करता हूँ—

गार्ग्य ने कहा—"अच्छा, यह बताओ इसकी उपासना का फल क्या है?"

राजा ने कहा—"जो जिसकी जिस भावना से उपासना

करता है, उसे वैसा ही फल भी प्राप्त होता है। इनकी उपासना करने वाला सबका अतिक्रमण करके स्थित होता है, सभी प्राणियों में उनका मस्तक बनकर रहता है और दीप्तिमान् प्रकाश युत राजा होता है। यही आदित्य की उपासना का फल है।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो सूर्य से भी ऊपर चन्द्र मण्डल में चन्द्र नामक पुरुष है, इसकी ब्रह्म रूप से उपासना करनी चाहिये।"

इस पर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! इस उपासना को भी मैं पहिले से ही जानता हूँ। उस सम्बन्ध में आप विशेष कुछ न कहें।"

गार्ग्य ने कहा—"इस सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?"

राजा ने कहा—"देखिये ब्रह्मन्! ये जो सोम हैं, चन्द्रमा हैं, ये महान् हैं, ये महा शुक्ल वस्त्र धारण करते हैं ये सोमराज इस नाम से विख्यात हैं। मैं तो सदा से इनकी इसी रूप में उपासना करता ही हूँ। इससे ऊँची कोई बात आप जानते हों तो बतावें?"

गार्ग्य ने पूछा—"अच्छा, बताइये, इस उपासना का फल क्या है?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! बता तो दिया, जो जैसे की उपासना करता है, वैसा ही बन जाता है। इन सोम के उपासक को प्रकृति यज्ञ में सोम की प्राप्ति होती है और विकृति यज्ञ में और अधिकता से सोमरस प्रस्तुत रहता है। ये सोम सभी वनस्पतियों के राजा हैं अतः इसके उपासक का कभी अन्न चुकता नहीं। इनके यहाँ कभी खाद्य पदार्थ क्षीण नहीं होते।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो विद्युत् में पुरुष है उसी की मैं ब्रह्म रूप में उपासना करता हूँ।"

इस पर राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! कोई नवीन बात बताइये जिसे मैं न जानता हूँ, विद्युत् पुरुष की उपासना तो मैं पहिले से ही करता हूँ। इसकी चर्चा छोड़कर कोई बड़ी बात बताइये।"

गार्ग्य ने कहा—"इसके सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"यह विद्युत् सबसे अधिक तेजस्वी है, मैं तेजस्वी मानकर ही इसकी उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"इसका उपासक राजा परम तेजस्वी होता है और उसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब राजा गार्ग्य के प्रत्येक उपदेश के सम्बन्ध में अपनी पूर्व जानकारी बताते गये, तब तो वे कुछ चकराये, किन्तु उन्होंने अपना उपदेश चालू ही रखा। अब जैसे वे आकाशादि की उपासना बतावेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

गार्ग्य कहें–जो चन्द्र–पुरुष ब्रह्महि तिहि मानूँ।
भूप कहें—मत कहो ताहि पहिले ही जानूँ॥
राजा सोम महान शुक्र अम्बर वर धारी।
साधक श्रुत अरु प्रसुत भरचो अन्नहु घर भारी॥
गार्ग्य कहें–विद्युत पुरुष–ब्रह्म कहे नृप जानि हौं।
तेजस्वी सो उपासक, प्रजा सहित तेजस्वि हौं॥

गार्ग्य-अजातशत्रु-सम्वाद (२)

(२१७)

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥*

(बृ० ० २ अ० १ ब्रा० ५ मं०)

छप्पय

गार्ग्य कहै—आकाश ब्रह्म नृप वाले—जानूँ।
अप्रवर्ति तिहि रूप उपासक तिहि तम मानूँ॥
जो उपासना करै प्रजा पशु पूर्ण रहै नित।
गार्ग्य कहै—जो वायु-पुरुष बसहिं मानूँ उत॥
कहै—भूप—जानूँ प्रथम, इन्द्र विकुण्ठ अ-पराजित।
होइ उपासक विजेता, सब थल विजयी शत्रुजित॥

---

* जब गार्ग्य ने कहा—"आकाश में यह जो पुरुष है, मैं ब्रह्मरूप से इसी की उपासना करता हूँ। तब अजातशत्रु बोले—"ऐसा न कहिये। मैं तो अप्रवर्ति रूप से इसकी उपासना करता हूँ। इसको जो भी कोई इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा तथा पशुओं से परिपूर्ण हो जाता है। और उसकी प्रजा का इस लोक में उच्छेद नहीं होता।"

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। सभी ब्रह्म की विभूति हैं, किसी में भी ब्रह्म भावना करके उपासना करो वहीं ब्रह्म की उपलब्धि हो जायगी। जैसे स्थान-स्थान पर सर्वत्र पत्र पेटिकायें टँगी हुई हैं उनमें से किसी में भी कहीं भी पत्र डाल दो निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जायगा। जल को कहीं भी फेंक दो वह इर-फिर कर समुद्र में ही पहुँच जायगा। इसी प्रकार आदित्य, चन्द्र, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, आदर्शगत रूप, प्राण, दिशा तथा छाया में कहीं भी ब्रह्मोपासना करो ब्रह्म की ही भावनानुसार प्राप्ति होगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब विद्युत पुरुष का भी अजातशत्रु ने प्रत्याख्यान कर दिया तब गार्ग्य ने कहा—"राजन्! यह जो आकाश में पुरुष है, मैं तो ब्रह्म रूप से इसी की उपासना करता हूँ।"

अजातशत्रु ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं तो पहिले ही इसकी पूर्ण तथा अप्रवर्ति रूप से उपासना किया करता हूँ, अतः इस विषय को मैं जानता हूँ, इस सम्बन्ध में आप विशेष कुछ कहने का कष्ट न करें।"

गार्ग्य ने पूछा—"आप इस सम्बन्ध में क्या जानते हैं?"

राजा ने कहा—"यह जो आकाश पुरुष है सर्वत्र परिपूर्ण है, यह प्रवर्त्तनशील नहीं है अर्थात् क्रिया शून्य है।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसकी उपासना करने वाले उपासक को फल क्या मिलता है?"

राजा ने कहा—"जैसा यह परिपूर्ण वैसा ही उपासक भी पुत्र पौत्रों से, गौ, बैल, घोड़ा आदि पशुओं से परिपूर्ण हो जाता है। और इसकी पुत्र पौत्रादि सन्तति असमय में विनष्ट नहीं होती।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो वायु में पुरुष है, मैं उसी की ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"इसकी भी विशेष चर्चा मत करो। इसकी भी मैं उपासना करता हूँ। इस विषय में भी पहिले से ही जानता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसके विषय मे आप क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"देखिये यह वायु पुरुष इन्द्र है अर्थात् परम ऐश्वर्ययुक्त है, यह वैकुण्ठ है अर्थात् जो किसी से कभी कुण्ठित न हो जिसे कोई सहन न कर सके और अपराजिता सेना है वायु की ४९ मरुतों की कभी किसी से पराजित न होने वाली सेना है मैं वायु पुरुष की इसी रूप से उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"जिस गुण से विशिष्ट उपास्य देवता होता है उपासक को वैसा ही फल मिलता है। अतः इसका उपासक सदा विजयी होता है, उसकी कभी पराजय नहीं होती और वह अपने शत्रु पर सदा विजय प्राप्त करता है।"

तब गार्ग्य ने कहा—"मैं जो अग्नि मे पुरुष है उसी की उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! कोई अश्रुत नूतन बात बताइये। इसे तो मैं पहिले से ही जानता हूँ और उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"इस विषय मे आप क्या जानते हैं ?"

अजातशत्रु ने कहा—"यह अग्नि पुरुष विषासहि है। अर्थात् सहनशील है। अग्नि मे जो भी जलने को डाल दो उसे वह जलाकर सहन कर लेता है। इसी भाव से मैं अग्नि पुरुष की उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। सभी ब्रह्म की विभूति हैं, किसी में भी ब्रह्म भावना करके उपासना करो वहाँ ब्रह्म की उपलब्धि हो जायगी। जैसे स्थान-स्थान पर सर्वत्र पत्र पेटिकायें टँगी हुई हैं उनमें से किसी में भी कहीं भी पत्र डाल दो निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जायगा। जल को कहीं भी फेंक दो वह इत-फिर कर समुद्र में ही पहुँच जायगा। इसी प्रकार आदित्य, चन्द्र, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, आदर्शगत रूप, प्राण, दिशा तथा छाया में कहीं भी ब्रह्मोपासना करो ब्रह्म की ही भावनानुसार प्राप्ति होगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब विद्युत पुरुष का भी अजातशत्रु ने प्रत्याख्यान कर दिया तब गार्ग्य ने कहा—"राजन्! यह जो आकाश में पुरुष है, मैं तो ब्रह्म रूप से इसी की उपासना करता हूँ।"

अजातशत्रु ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं तो पहिले ही इसकी पूर्ण तथा अप्रवर्ति रूप से उपासना किया करता हूँ, अतः इस विषय को मैं जानता हूँ, इस सम्बन्ध में आप विशेष कुछ कहने का कष्ट न करें।"

गार्ग्य ने पूछा—"आप इस सम्बन्ध में क्या जानते हैं?"

राजा ने कहा—"यह जो आकाश पुरुष है सर्वत्र परिपूर्ण है, यह प्रवर्तनशील नहीं है अर्थात् क्रिया शून्य है।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसकी उपासना करने वाले उपासक को फल क्या मिलता है?"

राजा ने कहा—"जैसा यह परिपूर्ण वैसा ही उपासक भी पुत्र पौत्रों से, गो, बैल, घोड़ा आदि पशुओं से परिपूर्ण हो जाता है। और इसकी पुत्र पौत्रादि सन्तति असमय में विनष्ट नहीं होती।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो वायु में पुरुष है, मैं उसी की ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"इसकी भी विशेष चर्चा मत करो। इसकी भी मैं उपासना करता हूँ। इस विषय में भी पहिले से ही जानता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसके विषय में आप क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"देखिये यह वायु पुरुष इन्द्र है अर्थात् परम ऐश्वर्ययुक्त है, यह वकुण्ठ है अर्थात् जो किसी से कभी कुण्ठित न हो जिसे कोई सहन न कर सके और अपराजिता सेना है वायु की ४९ मरुतों की कभी किसी से पराजित न होने वाली सेना है मैं वायु पुरुष की इसी रूप से उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"जिस गुण से विशिष्ट उपास्य देवता होता है उपासक को वैसा ही फल मिलता है। अतः इसका उपासक सदा विजयी होता है, उसकी कभी पराजय नहीं होती और वह अपने शत्रु पर सदा विजय प्राप्त करता है।"

तब गार्ग्य ने कहा—"मैं जो अग्नि में पुरुष है उसी की उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! कोई अश्रुत नूतन बात बताइये। इसे तो मैं पहिले से ही जानता हूँ और उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"इस विषय में आप क्या जानते हैं ?"

अजातशत्रु ने कहा—"यह अग्नि पुरुष विषासहि है। अर्थात् सहनशील है। अग्नि में जो भी जलने को डाल दो उसे वह जलाकर सहन कर लेता है। इसी भाव से मैं अग्नि पुरुष की उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"अग्नि पुरुष की जो इस भाव से उपासना करता है, वह निश्चय ही सहनशील होता है और उस राजा की प्रजा भी विपासहि अर्थात् सहनशील होती है।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो जल में पुरुष है मैं उसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"ऋषिवर ! कोई नूतन विलक्षण बात बताइये। इसे तो मैं पहिले से ही जानता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस विषय में आप पहिले से क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"देखिये, जल में आप अपनी आकृति देखिये, तो जैसे आप हैं वैसे ही प्रतिरूप अर्थात् आपके सदृश ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होगा। अतः मैं इसकी 'प्रतिरूप' भावना से उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसकी उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"प्रतिरूप ही इसका फल है इसके उपासक के जो पुत्र होगा वह इसके प्रतिरूप-सदृश-ही होगा। जो इसके पास आवेंगे, प्रतिरूप स्वभाव वाले ही आवेंगे। असदृश-अप्रतिरूप स्वभाव वाले इसके पास नहीं आते।"

तब गार्ग्य ने कहा—"जो दर्पण में पुरुष दिखाई देता है, मैं उसी की उपासना करता हूँ।"

अजातशत्रु ने कहा—"बस, आगे कुछ न कहिये। इस उपासना को भी मैं जानता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"यह प्रतिबिम्ब पुरुष की उपासना है। इसकी उपासना मैं देदीप्यमान रूप में रोचिष्णु भाव से करता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"इसका फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"जो दर्पण में दीखने वाले अपने प्रतिबिम्ब को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है। वह रोचिष्णु अर्थात् देदीप्तिमान् होता है। उसकी प्रजा भी देदीप्यमान् होती है, जिन-जिन से उनका संसर्ग संगम होता है उन सबसे बढ़कर वह देदीप्यमान् दिखाई देता है।"

गार्ग्य ने कहा—"जानने वाले पुरुष के पीछे जो यह शब्द उत्पन्न होता है, उसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"उसे मैं जानता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"क्या जानते हो ? कौन है वह ?"

राजा ने कहा—"जाने वाले पुरुष के पीछे जो शब्द उत्पन्न होता है, वह प्राण है। प्राणवान् पुरुष ही श्वास लेता है। ध्वनि करने पर प्रतिध्वनि प्राणवानों में ही होती है। अतः ऐसा जान कर ही मैं प्राणरूप से इसकी उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"जो प्राण की इस रूप में उपासना करता है। उसकी अकाल में मृत्यु नहीं होती, अकाल मृत्यु से बचकर वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है। समय से पूर्व प्राण इसका परित्याग नहीं करता।"

तब गार्ग्य ने कहा—"इन दिशाओं में जो दिग् पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"रहने भी दो ब्रह्मन ! क्या वे ही पुरानी पिटी पिटी बातें करते हो इस उपासना को तो पहिले से ही जानता हूँ और करता भी हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"इस विषय में आप क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"देखिये, दिशाओं में कर्णेन्द्रिय में और हृदय

में अश्विनी कुमार एक ही देवता है। ये दो भाई सदा साथ-ही-साथ रहते हैं कभी परस्पर में वियुक्त नहीं होते। ये कभी एक-एक पृथक होकर नहीं रहते सदा सङ्ग-सङ्ग रहते हैं। अतः इनमें अवियुक्तता और अनयगत्व दो विशेषतायें हैं। इन दो विशेषताओं के ही साथ मैं इस दिग् पुरुष की उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"इसके उपासक का अपने गण से बाल बच्चे पशुओं से कभी विच्छेद नहीं होता। उसकी स्त्री का उससे विच्छेद नहीं होता बहू दुलहा का जोड़ा साथ-ही-साथ रहता है, वह द्वितीयवान् ही बना रहता।"

गार्ग्य ने पुनः कहा—"मैं पुरुष की जो परछाँई है। छाया है, उसी को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"देखिये, जिस विषय में मेरी जानकारी है, उसे कहना तो मानों पिसे को पीसना है। छाया पुरुष के विषय में मैं पहिले से ही जानता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"आप क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"जिसकी मृत्यु संन्निकट होती है, उसे अपनी छाया दिखाई नहीं देती। छाया मृत्युरूप है और इसी रूप से मैं इसकी उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसका फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"जो छाया पुरुष की उपासना करता है उसकी अपमृत्यु अकाल मृत्यु नहीं होती। वह अपनी पूर्ण आयु का सुख पूर्वक उपभोग करता है। इसके समीप अकाल में मृत्यु फटकती भी नहीं।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो आत्मा में–शरीर में–पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।"

इस पर राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! इससे भी मैं परिचित हूँ। और आगे कहिये।"

गार्ग्य ने कहा—"क्या परिचित हैं आप ?"

राजा ने कहा—"देखिये, आत्मा शब्द जीव, उपाय, धीरता, बुद्धि, स्वभाव, परब्रह्म और शरीर इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ आपका तात्पर्य जीवात्मा प्रजापति से हैं। वह आत्मन्वी है अर्थात् प्रशस्त आत्मा वाला है। आत्मवान् है। मैं आत्मन्वी रूप से ही इस आत्मा की उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"इसकी जो इस भाव से उपासना करता है, वह उपासक आत्मन्वि अर्थात् आत्मवान् होता है। उसकी संतति-प्रजा-भी आत्मन्वि अर्थात् आत्मवान् होती है। आगे कहिये ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब गार्ग्य मुनि सिटिपिटा गये। आगे उनसे और कुछ भी कहते न बना। वे चुपचाप लज्जित होकर नीचा सिर करके कुछ सोचने लगे।"

तब राजा ने पूछा—"कहिये ब्रह्मन् ! कुछ और भी कहना है या आपकी इतनी ही पूँजी है ?"

लज्जित होकर गार्ग्य ने कहा—"राजन ! बस, मैं तो इतना ही जानता हूँ।"

अजातशत्रु ने कहा—"इतने से तो ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। ये सब तो ब्रह्म के कर्म है, इनका कर्ता तो इन सब से कोई विलक्षण ही है। उसे आप जानते हैं ?"

गार्ग्य बालाकि ने कहा—"उसे तो मैं नहीं जानता।"

राजा ने कहा—"तब आपने मुझसे कैसे प्रतिज्ञा की थी, कि मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा। इससे आगे कुछ जानते हो तो कहिये।"

गार्ग्य ने कहा—"इससे आगे मैं कुछ नहीं जानता। आप जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"आप ब्राह्मणों, गुरुजनों की कृपा से ही जानता हूँ।"

तब गार्ग्य ने कहा—"आया था, तो मैं गुरु बनने किन्तु मैं आपसे पराजित हो गया। अब आपकी शरण में हूँ। आपके उपपन्न हूँ, मैंने आपका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। आप मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! मिथिला नरेश महाराज जनक शत्रुजित यह सुनकर संकोच में पड़ गये। उन्होंने कहा—ब्रह्मन् ! सदा से क्षत्रिय उपसन्न होकर शिष्यत्व की कामना से ब्राह्मण के समीप जाया करते हैं। क्षत्रिय ही ब्राह्मणों के शिष्य होते हैं। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय के समीप ब्रह्मविद्या सीखने जाता है और क्षत्रिय का शिष्यत्व स्वीकार करता है यह विपरीत बात हो जायगी। गुरु बनकर क्षत्रिय ब्राह्मण को ब्रह्म का उपदेश कैसे कर सकता है ? फिर भी आपने ब्रह्मज्ञान की याच्ञा की है। मेरे द्वार से याचक भग्नाशा होकर जाय–निराश होकर लौटे, यह क्षत्रिय के लिये कलङ्क की बात है। इसलिये मैं आपको आपकी इच्छानुसार ब्रह्मज्ञान कराऊँगा ही। किन्तु यहाँ सबके सम्मुख नहीं। चलिये, एकान्त में हमारी आपकी बातें होंगी।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो ! यह कहकर राजा अजातशत्रु उन दृप्त बालाकि नामक ऋषिकुमार को महलों के भीतर एकान्त स्थान में ले गये। अब जैसे राजा अजातशत्रु उन ऋषि-कुमार को युक्ति के साथ ब्रह्म का ज्ञान करादेंगे। उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

(१)

गार्ग्य कहे—जो पुरुष अग्नि मानूँ ब्रह्महिँ तिहि।
भूप कहे बस करो उपासन करूँ विषासहि॥
होई उपासक सहनशील सततिहु विषासहि।
गार्ग्य कहे—जल पुरुष ब्रह्म समझूँ सुमिरूँ तिहि॥
नृपति कहे—प्रतिरूप कार, करूँ उपासन हौं प्रथम।
होइ उपासक रूप प्रति, प्रतिरूपहिँ सुतवर परम॥

(२)

गार्ग्य कहे आदर्श पुरुष ब्रह्महि करि मानूँ।
बोले राजा—और कहा, यह तो हौं जानूँ॥
रोचिष्णुहु तिहि मानि उपासन करूँ नित्य प्रति।
प्रजा सहित रोचिष्णु उपासक दीप्तिमान अति॥
गार्ग्य कहे—प्रतिध्वनि परक-शब्द ब्रह्म ताकूँ कहूँ।
कहे भूप—वह प्राण है, प्राणवान बनि नित रहूँ॥

(३)

गार्ग्य कहे - दिग्पुरुष ब्रह्म करि करूँ उपासन।
भूप कहे अवियुक्त द्वितियता फल अति पावन॥
गण विच्छेदन द्वियविहान् है जाय उपासक।
गार्ग्य कहे—जो पुरुष सुछाया ब्रह्म नियामक॥
नृपति कहे—वह मृत्यु है, मृत्यु उपासन जे करैं।
पूर्ण आयु भोगें जगत, नहिँ अकाल मे वे मरैं॥

(४)

गार्ग्य कहे—जो पुरुष आतमा में तिहि मानूँ।
ब्रह्मरूप तैं करूँ उपासन नृप कहिँ जानूँ॥
आत्मन्वी तिहि मानि उपासन करिहैं साधक।
आत्मवान तिहि प्रजा अनात्मा होइ न बाधक॥
सटपटाय पुनि मुनि गये, निज अज्ञानी मानकें।
नृप के शरणागत भये, सकुचे नृप द्विज जानिकें॥

गार्ग्य को जनक द्वारा ब्रह्म का उपदेश

[२१८]

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा
व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे
देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य
सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥*

(बृ० उ० २ अ० १ ब्रा २० मं०)

छप्पय

बोले नृप—विपरीत विप्र-गुरु होइ न छात्रय ।
तऊ कहूँ उपदेश द्वार द्विज आये अति प्रिय ॥
यों कहि भीतर सुप्त पुरुष ढिग नाम बुलायो ।
उठ्यो नहीं तब मसलि-मसलि कें ताहि उठायो ॥
नृप पूछें विज्ञान मय, पुरुष कहाँ आयो कितहिं ?
उत्तर गार्ग्य न दै सक्यो, समुझावें नृप पुनि द्विजहिं ॥

---

* जैसे मकड़ी निज निर्मित तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाती है। जैसे अग्नि से निकले विस्फुलिंग ऊपर नीचे जाते हैं, वैसे ही आत्मा से समस्त प्राण, सभी लोक, सभी देवगण और समस्त भूत उत्पन्न होकर निकलते रहते हैं। सत्य का सत्य यह आत्मा ही उपनिषद् है—रहस्य है—प्राण सत्य है, उनमें यह सत्य है।

साधारणतया जगत् की दो दशायें हैं। एक व्यक्त दूसरी अव्यक्त। तीसरी एक दशा और भी है जब अव्यक्त से व्यक्त होने लगता है। इन तीनों को ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय कहते हैं। जब अव्यक्त में व्यक्त होने की इच्छा होती है, तो सृष्टि का कार्य आरम्भ होने लगता है। जब पूर्ण व्यक्त हो जाती है तो उसी का नाम स्थिति है। व्यक्त जब जहाँ से हुआ था, अपने कारण में पुनः छिप जाता है, वही प्रलय की स्थिति है।

दुकानदार और दुकान की सामग्री और दुकान ये तीन हैं। दुकानदार जब प्रातः दुकान खोलता है तो भीतर रखे हुए सामान को निकाल-निकाल कर बाहर सजाने लगता है, मानों वह सृष्टि कर रहा है। दुकान सजाकर जब गद्दी पर स्थिर होकर सौदा बिकवाने लगता है तो मानों वह स्थिति काल है। सायंकाल में जब पुनः एक-एक सामान उठा-उठाकर भीतर रखकर दुकान में ताला डाल देता है, तो मानों वह प्रलय है। वास्तव में प्रलय या नाश तो किसी का भी नहीं। जो है उसका नाश तो कभी होता ही नहीं। केवल कुछ काल को—लोप हो जाता है। अदर्शन का—नहीं दिखाई देने का—ही नाम लोप है। दुकानदार भी सत्य, दुकान भी सत्य और दुकान में का सब सामान भी सत्य। केवल व्यक्त और अव्यक्त ये उसकी दो दशायें हैं। मिथ्या नाम की तो कोई वस्तु ही नहीं।

मिट्टी है उसके पात्र हैं और कुम्भकार है। कुम्हार की जब इच्छा होती है, मिट्टी से नाम रूपात्मक घड़ा आदि बना देता है, इच्छा होती है सबको समेटकर फिर सबको बिगाड़ बिगूड़ कर भीतर रख लेता है। इनमें से नष्ट होने वाली वस्तु एक भी नहीं कुम्हार भी सत्य, मिट्टी भी सत्य और तन्निर्मित पात्र भी सत्य।

सुवर्णकार है, सुवर्ण के नाना प्रकार के आभूषण बना लेता है, इच्छानुसार सबको गलाकर उसका सुवर्ण बना लेता है। अब भले ही आभूषण व्यक्त रूप में दिखाई नहीं देते। किन्तु उनका अस्तित्व तो सुवर्णकार के मस्तिष्क में विद्यमान ही है, अतः सुवर्णकार भी सत्य, सुवर्ण भी सत्य और सुवर्ण निर्मित समस्त आभूषण भी सत्य।

मकड़ी है, अकेली है, किन्तु उसके उदर में जाला और तन्तु दोनों ही विद्यमान हैं। उनका अस्तित्व है। जब चाहती है, मुख में से तन्तु निकालकर जाले का निर्माण कर लेती है, इच्छा होती है जाले को तन्तु बनाकर पुनः पेट में रख लेती है, अतः मकड़ी भी सत्य जाला भी सत्य और तन्तु भी सत्य।

अग्नि है, वह काष्ठादि ईंधन में पहिले ही विद्यमान है। जब वह काष्ठ में व्यक्त होती है, तो उसमें से विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। चिनगारियाँ कहीं अन्यत्र से नहीं आयीं अग्नि के ही पेट से निकलती हैं। अतः अग्नि भी सत्य, ईंधन भी सत्य, और विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ भी सत्य।

ईश्वर ने ही जीव को जगत को व्यक्त किया है। वे कहीं से नये निर्माण होकर नहीं आ गये। नया तो कुछ है ही नहीं। सब पुराना ही पुराना है। व्यक्त होने पर वह नया-सा दीखता है। जगत् को व्यक्त करके जीव कर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं। ईश्वर की जब इच्छा होती है, जीव जगत् को अपने पेट में रख लेता है, उनका अदर्शन-सा हो जाता है। इच्छा होती है, तब उन्हें व्यक्त करके जगत् व्यापार चलाने लगता है। अतः ईश्वर भी सत्य जगत् भी सत्य और जीव भी सत्य।

परमात्मा की इच्छा से प्रकृति में विकृति होती है जगत् व्यापार चालू होता है अन्धी प्रकृति के कन्धे पर लूला पुरुष बैठ-

कर उसे सब बताता जाता है, उससे कार्य कराता जाता है, पुरुषोत्तम परमात्मा की जब इच्छा होती है, दोनों को कोठरी में सुला देते हैं। मारते नहीं। मारना तो वे जानते ही नहीं। मरता तो कोई है ही नहीं। इसलिये प्रकृति भी सत्य है, पुरुष भी सत्य है और परमात्मा तो सत्य है ही। सत्य कहो पूर्ण कहो, एक ही बात है। पूर्ण में पूर्ण मिला दो पूर्ण हो जायगा। पूर्ण में पूर्ण को घटा दो पूर्ण ही बच जायगा। पूर्ण में से पूर्ण को गुणा कर दो गुणनफल पूर्ण ही आवेगा। यह जगत् तीन से ही चल रहा है, व्यवहार परमार्थ सब में तीन ही तीन हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब गार्ग्य दृप्त बालाकि महाराज अजातशत्रु से पराजित होकर उपसन्न हो गया, उनका शिष्यत्व स्वीकार करने को उद्यत हो गया, तो धर्मात्मा महाराज जनक ने कहा—"आचार्य होने का अधिकार तो केवल ब्राह्मण को ही है। यह विपरीत बात हो जायगी। इसलिये मैं शिष्यभाव से तो आपको उपदेश दूँगा नहीं। रही ब्रह्म विद्या के उपदेश की बात, सो मैं क्षत्रिय हूँ, आप मेरे द्वार से निराश लौटें यह भी मेरे लिये उचित नहीं। शिष्य भाव से न सही तो भी मैं आपको ब्रह्म का ज्ञान कराऊँगा ही।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर राजा उन ऋषि कुमार के हाथ को पकड़कर मित्र भाव से उठ खड़े हुए। गुरु का शिष्य पैर पकड़ता है, मित्र, मित्र का हाथ पकड़ता है। अतः राजा ने मित्र भाव से गार्ग्य का हाथ पकड़ा। दोनों भीतर राजमहल में गये। वहाँ उन्होंने किसी व्यक्ति को प्रगाढ़ निद्रा में सोते हुए देखा। दोनों उसके समीप गये। अजातशत्रु ने उस सोये हुए पुरुष को सम्बोधित करके कहा—"हे महन्! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्! उठो उठो।" इन सम्बोधनों से उठाने पर

और उठकर बैठ गया, तब राजा ने उस दृप्त बालाकि से पूछा—"ब्रह्मन्! अब हम आप से दो प्रश्न करते हैं। यह जो सोया हुआ पुरुष था, तब भी प्राणवान् था और जागने पर भी यही प्राणवान् है। (१) जब यह सो रहा था, उस समय भी इन्द्रियाँ थीं, इन्द्रियों के सम्मुख विषय उपस्थित होने पर भी यह बोला नहीं, इससे प्रतीत होता है, वह यहाँ नहीं था। जब यहाँ नहीं था तब कहाँ चला गया था? दूसरा प्रश्न यह कि जब हाथ से मसलने पर इसकी निद्रा भङ्ग हुई और यह जाग उठा, तो सब सुनने लगा, सब बोलने लगा। तब बताइये यह कहाँ से आ गया?"

गार्ग्य इसका कुछ भी उत्तर न दे सका, उसने कहा—"राजन्! इस विषय में मेरी जानकारी नहीं है, कृपा करके इसे आप ही बताइये।"

इस पर राजा ने कहा—"यह जो इन्द्रियों द्वारा विषयों को जानने वाला विज्ञानमय पुरुष है। सोते समय समस्त इन्द्रियों को उनके विषय ग्रहण सामर्थ्य के साथ तथा मन को भी साथ लेकर हृदयाकाश जो ब्रह्म है उसी में जाकर सो गया था। उसके साथ संगत हो गया था।"

शौनकजी ने पूछा—"हृदयाकाश कहाँ है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! नाभि से एक बिलस्त ऊपर हृदय स्थान है, वहाँ नीचा मुख किये कमल कोश के समान एक मांस पिंड है। इसका आकार हाथ की बँधी हुई मुट्ठी के सदृश है। उसमें आकाश है अवकाश है—वह आत्म स्वरूप है। उसी में जाकर यह विज्ञानमय पुरुष मन इन्द्रियों सहित सोता है। इसीलिये सोये हुए पुरुष को 'स्वपिति' कहते हैं। अर्थात् यह सोता है। स्वपिति का अर्थ है स्व अर्थात् आत्मा को अपीति अर्थात्

प्राप्त हो जाता है (स्वं=आत्मानं अपीति=अपिगच्छति=इति=स्वपिति) इसीलिये आत्मा को प्राप्त हो जाने पर सुषुप्ति अवस्था-गाढ़ निद्रा-में प्राप्त पुरुष दुःख, शोक, भय तथा शारीरिक क्लेश सभी को भूलकर आनन्द का-सुख का-अनुभव करता है। उस समय सभी प्राण की अनुवर्तिनी इन्द्रियाँ गृहीत हो जाती हैं, वन्दिनी बन जाती हैं, बुलाने पर वाग् इन्द्रिय बोल नहीं सकती, क्योंकि वह तो वन्दिनी बनी पड़ी है। विषय सम्मुख आ जाने पर चक्षु इन्द्रिय देख नहीं सकती, क्योंकि गृहीत है। शब्द सम्मुख होने पर भी श्रोत्र इन्द्रिय सुन नहीं सकती, क्योंकि वह तो भीतर बन्दिनी बनी सो रही है। मन किसी विषय पर स्वतन्त्र मनन नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो पराधीन पड़ा है। गृहीत है। सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित रहकर शोक, दुःख, चिन्ता, आधि-व्याधि से मुक्त होकर बिना कुछ देखे सुने आनन्द का ही अनुभव करता है।"

शौनकजी ने कहा—"सुषुप्ति अवस्था में तो आप जैसा कह रहे हैं, कुछ भी बाहरी पदार्थों का अनुभव किये बिना देखे सुने बिना सुख से सोता है, किन्तु स्वप्नावस्था में तो शरीर शैया पर पड़ा रहता है, इन्द्रियाँ प्रसुप्त पड़ी रहती हैं, फिर भी उस अवस्था में विषय दृष्टिगोचर होते हैं, सुख दुःख का अनुभव भी होता है। शोक मोहादि भी होते हैं। यह क्या बात है? इस में तो जाग्रत अवस्था की ही भाँति विषयों का उपभोग भी होता है और उनसे उत्पन्न हर्ष, शोक भी होता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वप्नावस्था की बात पृथक् है। उस अवस्था में यह विज्ञानमय पुरुष जीवात्मा-हृदय आकाश में शयन नहीं करता। उस समय तो वह अपने कर्म फलों को भोगता है।"

शौनकजी ने आश्चर्य के साथ पूछा—"सूतजी! कर्म फल तो शरीर द्वारा भोगे जाते हैं, उस पुरुष का शरीर तो शैया पर पड़ा रहता है, फिर वह कर्म फल किसके द्वारा और कैसे भोगता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! इस जीवात्मा के कर्मों की कोई संख्या नहीं। एक क्षण भी ऐसा नहीं बीतता जिसमें पुरुष कुछ-न-कुछ करता न रहे। चुपचाप पड़ा भी रहेगा, तो मन से धुना-बुना तो करता ही रहेगा। कोई मनसा, वाचा, कर्मणा कर्म किये जायँ उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा। इस स्थूल शरीर द्वारा समस्त कर्मों का फल भोगना संभव नहीं। अतः कुछ कर्मों का फल स्वप्न में स्वप्न शरीर से भोगकर ही कर्मों के फल समाप्त किये जाते हैं। कुछ कर्म जिनका फल स्वप्न में भोगना पड़ता है, स्वप्न काल में वे कर्मफल उदित होते हैं। स्वप्न का एक शरीर दूसरा ही होता है, उस शरीर से यह विज्ञानमय पुरुष उन स्वप्न के सुख दुःखों को भोगता है। कभी तो स्वप्न में महाराज बनकर उन स्वप्न के रचे पदार्थों द्वारा राज्य करता है। उन्हीं स्वप्न के नौकर चाकरों पर शासन करता है। कभी उत्तम ब्राह्मण बनकर यज्ञ यागादि पुण्य कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। कभी देवतादि उच्च योनियों को प्राप्त होता है। कभी चांडालादि नीच योनियों में चला जाता है। इस प्रकार स्वप्न में स्वप्न पदार्थों द्वारा स्वप्न देह से कर्म फलों को भोगता है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण तो शरीर में ही रहता है, वह तो निकलता नहीं फिर इतने दूर-दूर के भोगों को जाकर कैसे भोगता है ?"

सूतजी ने कहा—"प्राण तो शरीर में रहते ही हैं। जीवात्मा शरीर में रहकर ही स्वच्छन्द होकर स्वप्न के भोगों को भोगता

है। जैसे कोई राजा है। अपने देश में—जाग्रत अवस्था में—तो वह राजा होकर भोगों को भोगता ही है, किन्तु किसी प्रदेश को अपने बाहु बल से विजय करके उस देश में भी वह अपने सेवक सचिव पुरजन और परिजनों के साथ स्वच्छन्द विचरण करता है। साथ ही अपने पूर्व देश का राजा तो वह बना ही रहता है। इसी प्रकार जाग्रत शरीर के अन्तर्गत ही स्वप्न शरीर से प्राणों को ग्रहण करके अपने स्वप्न निर्मित शरीर में यथेच्छ विचरण करता है। जैसे ही स्वप्न शरीर के कर्म फल भोग, वैसे ही जाग्रत के भी हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"जैसे जाग्रत अवस्था में, स्वप्नावस्था में कर्म फल भोगता है, वैसे ही क्या सुषुप्ति अवस्था में भी जीवात्मा कर्म फलों को भोगता है ?"

सूतजी ने कहा—"सुषुप्ति अवस्था में भोग रहते ही नहीं जिनका उपभोग करे। वहाँ तो आनन्द ही आनन्द है। आनन्द तो ब्रह्म का स्वरूप है, अपने स्वरूप में अपना ही सुख है। सुषुप्ति अवस्था में तो वह निजानन्द के अतिरिक्त किसी के भी विषय में कुछ भी नहीं सोचता, कुछ भी नहीं जानता। उस समय हिता नाम की जो नाड़ी है उसके द्वारा बुद्धि के साथ जाकर वह शरीर में व्याप्त होकर सुखपूर्वक शयन करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"हिता नाड़ी कहाँ है, और उसमें वह किस प्रकार शयन करता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! इस शरीर में नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है। पीपल के पत्ते में जैसे छोटी बड़ी अनेकों शिरायें दिखायी देती हैं, उनसे भी पतली बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं। ये सब नाड़ियाँ अन्न के रस का परिणाम हैं। आत्मा के हित में सतत रहने के कारण हृदय से निकलकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त

होने वाली बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ हैं। उन सबमें बड़ी नाड़ी हिता है, उसी से ये सब नाड़ियाँ निकली हैं। वह हिता हृदयाकाश में स्थित है। उसी में जाकर यह बुद्धि सहित शयन करता है। कैसे शयन करता है, इस विषय में दृष्टान्त देते हैं।"

ये जो तत्काल उत्पन्न होने वाले बच्चे होते हैं। जो केवल माता के स्तन के दूध को ही पीकर रहते हैं। उन्हें निद्रा बहुत आती है। १८-२० घण्टे वे सोते हैं, तनिक दूध पिया सो गये। सोते समय न उन्हें कुछ दुःख होता है न रोते चिल्लाते ही हैं, आनन्द से सोते रहते हैं।"

राजा है, उसे राज्य भर की समस्त प्रजाजनों के सुख-दुःख की चिन्ता बनी रहती है। रात्रि के समय सुन्दर सुखद शैया पर जब वह सुख से सो जाता है तो सभी शोक, मोह, दुःख तथा चिन्ता से निर्मुक्त होकर आनन्द के साथ मीठी-मीठी निद्रा के सुख का अनुभव करता है।

विद्वान् ब्राह्मण है, किसी महायज्ञ का आचार्य है, यज्ञ सम्बन्धी नाना प्रकार की चिन्तायें उसे व्याप्त रहती हैं। कर्म कराते-कराते श्रान्त हो जाता है, जब वह अपनी शाला में आकर सुखद शैया पर आनन्द की दुःखनाशिनी अवस्था को प्राप्त करके शयन करता है, तो सभी चिन्ताओं से निर्मुक्त हो जाता है। उसी प्रकार यह विज्ञानमय पुरुष भी हिता नाम की हृदयान्तर्गत नाड़ी के निकट हृदयाकाश में बुद्धि के सहित शयन करता है, तो यह समस्त चिन्ताओं से निर्मुक्त होकर केवल आनन्द का ही अनुभव करता है। जिसके अधीन जीवात्मा रह कर सुखानुभूति करता है, ब्रह्म तो उससे भी विलक्षण है। प्राणादि की उत्पत्ति तो उसी से होती है।

शौनकजी ने पूछा—"उसका स्वरूप क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आत्मा रूप से रहित है, उसका अपना ही विलक्षण स्वरूप है। उसका वर्णन वाणी से संभव नहीं। राजा ने उस सुप्त पुरुष के सम्बन्ध में गार्ग्य से दो प्रश्न किये। सुषुप्ति अवस्था में वह विज्ञानमय पुरुष-जीवात्मा कहाँ था और अब जाग्रतावस्था में कहाँ से आया।" जहाँ सुषुप्ति अवस्था में सोया था वहाँ का वर्णन तो कर दिया। अब वह आया कहाँ से ? इसे बताते हैं—

देखो, जिस प्रकार मकड़ी अपने ही निर्मित जाल के तन्तुओं में आहार के निमित्त शनैः-शनैः ऊपर की ओर जाती है। जैसे अग्नि से ही निकलने वाली चिनगारियाँ अग्नि से निकलकर बाहर रहती हैं उसी प्रकार आत्मा से ही सब पदार्थ आते हैं। सबका कर्ता कारण आत्मा ही है। आत्मा से ही समस्त प्राण उत्पन्न होते हैं, वहीं से प्राण आते हैं। आत्मा से ही समस्त देवगण प्रकटित होते हैं। देवताओं के आदि कारण वे ही परब्रह्म परमात्मा ही हैं। अधिक क्या कहें। ये समस्त चराचर प्राणी, ये सभी स्थावर जंगम जितने भी भूत समुदाय हैं सब उन्हीं परब्रह्म परमात्मा से ही प्रकटित होते हैं। यह सबका सब सत्य है। इस सत्यका भी सत्य वह परमात्मा है। यह प्राण सत्य है, किन्तु इस प्राण का भी प्राण स्वरूप सत्य परमात्मा है। यही उपनिषद् है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! दृप्त बालाकि ऋषिकुमार को इस प्रकार अजातशत्रु महाराज जनक ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराने के निमित्त प्राण को सत्य बताया। प्राण का भी सत्य ब्रह्म है। अब आगे उसी प्राण की उपासना बतावेंगे। यहाँ तक द्वितीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण समाप्त हुआ। अब जैसे बृहदारण्यक उपनिषद्

के द्वितीय ब्राह्मण में शिशु नाम से मध्यम प्राण की उपासना बतायी है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

जीव करन आकाश हृदय में शयन करत जब।
प्राण वाक अरु चक्षु श्रोत्र मन हों गृहीत तब॥
स्वप्न करम फल उदित, भूप, द्विज, देव कीट बनि।
भूप सरिस स्वच्छन्द देह में विचरत प्रानिनि॥
जब सोवत निश्चिन्त बनि, विषयनि कछु जानें नहीं।
सहस बहत्तर नाड़ि हिय, हिता शयन धी सँग वहीं॥

(२)

जैसे बालक, भूप, विप्र विद्वान् भवन में।
सोवैं सुख तें दुःख-नासिनी गाढ़ नींद में॥
तैसे ही यह जीव सुषुप्ती में सुख सोवे।
मकरी -जालो बुनै तन्तु तैं ऊपर होवे॥
विस्फुलिंग पावक उठें, आत्मा तैं त्यों प्राण सह।
लोक, देव सब भूत त्यों, सत्य प्राण तिनि सत्य वह॥

शिशु नाम से मध्यम प्राण की उपासना

(२१६)

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि । अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम ॥*

(बृ० उ० २ अ० २ ब्रा० १ म०)

छप्पय

शिशु सम मध्यम प्राण देह आधान बतावें ।
शिर है प्रत्याधान प्राण स्थूणा कहलावें ॥
दाम अन्न ही कह्यो चार सह शिशु जो जानें ।
सात शत्रु, अवरोध करें साधन करि मानें ॥
नेत्र-रक्त, जल, कनीनका, कृष्ण, शुक्ल, द्वै अधर क्रम ।
रुद्र, मेघ, आदित्य अरु, अग्नि, इन्द्र, भू, स्वरग सम ॥
उपनिषद् में प्राणों को अत्यधिक महत्व देते हैं । प्राण ही

---

* एक शिशु है उसे आधान, प्रत्याधान, स्थूणात तथा दाम इन चार वस्तुओं सहित जो जानता है, वह उपासक द्वेष करने वाले सात शत्रुओं का अवरोध करता है । मध्यम प्राण ही शिशु है, शरीर ही आधान शिर प्रत्याधान है । प्राण स्थूणा है और अन्न दाम है ।

जीव का मुख्य आधार है, इसीलिये जीवधारी प्राणी कहलाते हैं, यह प्राणोपासना उपासना का आधार है। ब्रह्म को सत्य का सत्य और प्राणों का प्राण बताया है। जैसे दूध पीने वाला छोटा शिशु दो ही काम करता है। दूध पीता है और सोता रहता है। ऐसे ही यह प्राण रूपी बछड़ा है बहुत ही छोटा फुदकने वाला शिशु है। इसे एक रज्जु से खूँटे में बाँधे रहते हैं। ऐसे यह जीव रूप प्राण हृदयरूपी गुफा में बैठा रहता है। बछड़े के लिये चार वस्तुएँ आवश्यक हैं। एक तो इसे बँधने के लिये स्थान चाहिये। एक पूर्व स्थापित पहिले से बना स्थान चाहिये। तीसरा बाँधने को एक खूँटा चाहिये, चौथे एक ऐसी रस्सी चाहिये जो बछड़े के कण्ठ में भी बँधी रहे और खूँटे में भी बँधी रहे। इन चार वस्तुओं से युक्त जो इस बछड़े को जानता है। वह अपने सात शत्रुओं का अवरोध करता है। अर्थात् शत्रु उसका कुछ भी अपकार करने में समर्थ नहीं होते। अतः अब आगे राजा जनक प्राण के उपकरणों सहित उसका वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्म के उपदेश की बात चली थी, दृप्त बालाकि ने अपनी चंचलतावश ज्ञानी महाराज अजातशत्रु से कहा था—"मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा।" ब्रह्मज्ञान से विनम्र हुए महाराज जनक ने उनकी बात का प्रत्याख्यान नहीं किया, कि आप मुझे क्या ब्रह्म का उपदेश करेंगे। मुझे तो ब्रह्म का ज्ञान है। उन्होंने ऋषिकुमार के वचनों का अभिनन्दन किया। जब वे देह में रहने वाले आत्मा जीव तक पहुँचे तब आगे कुछ न कह सके। उस समय उससे आगे राजा ने जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त पुरुष का वर्णन किया और कह दिया यह सत्य का सत्य है और प्राण ही सत्य है। अब प्राण का सत्यत्व सिद्ध करने के लिये उपकरणों सहित मध्यम प्राण की

शिशु से उपमा देते हुए कह रहे हैं। देखो, एक शिशु है। बछड़ा है। उसके चार उपकरण हैं, १–आधान, २–प्रत्याधान, ३–स्थूणा और ४–दाम इन चारों उपकरणो सहित जो शिशु को जान लेता है, अर्थात् इसकी उपासना करता है। उसके सात भ्रातृव्य कुछ बिगाड़ नहीं सकते। उनका वह अवरोध करने में पूर्ण समर्थ होता है।"

भातृव्य भाई के लड़को को कहते हैं। प्रायः भाई तो कुछ अनुकूल होते हैं, किसी-किसी के भाई के लडके भी अनुकूल होते हैं। किन्तु जो सौतेला भाई है उसके लड़के प्रायः द्वेष करते हैं। वे अपना भाग पाने को लड़ाई झगड़ा किया करते हैं अतः भ्रातृव्य शब्द-शत्रु के अर्थ मे व्यवहृत होता है। शिर मे स्थित जो सात प्राण हैं, अर्थात् विषय प्राप्त करने के सात छिद्र रूपी साधन हैं। ये प्राणों की उपासना से निरोध नहीं करते। लड़ाई झगड़ा उपद्रव नहीं करते, शान्त बने रहते हैं।

अब ये चार उपकरण कौन कौन से हैं। भगवती श्रुति स्वयं ही इसकी व्याख्या करती है। सबसे पहिले तो शिशु का परिचय कराते हैं। यह बछड़ा कौन है? कहते हैं—"यह जो मध्यम प्राण है वही मानो बछड़ा है, शिशु है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! प्राणों में भी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ होते हैं क्या?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन्! यहाँ मध्यम प्राण कहने से उत्तम से छोटे से तात्पर्य नहीं है। मध्यम से यहाँ शरीर के मध्य भाग में–हृदय में–रहने वाले प्राण से तात्पर्य है। मुख्य प्राण हृदय में ही रहता है। हृदय शरीर का मध्य भाग है इसलिये मुख्य प्राण का ही नाम मध्यम प्राण है।"

शौनकजी ने कहा—"ठीक है समझ गये। अब उपकरणों को बताइये आधान क्या ?"

सूतजी ने कहा—"आधान उसको कहते हैं, जिनमें वस्तु रखी जाय। दूध का आधान दोहनी है, जल का आधान कमंडलु है। आधान कहो, अधिष्ठान कहो एक ही बात है। (आधीयते-अस्मिन् = इति आधानम्) तो इस प्राण रूप बछड़े का रहने का स्थान क्या है ? यह देह में रहता है, इसलिये शरीर ही इसका आधान है। प्राण को शिशु क्यों कहा ? इसलिये कि अन्य इन्द्रियाँ तो अपने-अपने विषयों में पटु हैं। यह प्राण भोला भाला है। यह स्वतः विषयों में प्रवृत्त नहीं होता। जहाँ बाँध दो वहीं बँधा रहता है। यह पाँच प्रकार से शरीर में रहता है। बृहन्, पाण्डरवास, सोम और राजा इसी प्राण के नाम हैं। शरीर इसका आधान-रहने का स्थान है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रत्याधान क्या ?"

सूतजी ने कहा—"एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान में रखा जाय उसे प्रत्याधान कहते हैं। पहिले प्राण हृदय में स्थापित होता है। हृदय से शिर में जाता है। सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है। जैसे बछड़ा गर्भ काल में गर्भ में रहता है, गर्भ से निकल कर भूमि में आता है, तो गर्भ स्थान तो आधान, जिसमें-गर्भ का आधान करते हैं, गर्भ को स्थापित करते हैं। गर्भ परिपूर्ण होने पर पृथ्वी पर आता है, पृथ्वी उसका प्रत्याधान है। इसी प्रकार प्राण पहिले हृदय में आता है, हृदय से सम्पूर्ण शरीर में विशेष कर सिर में आता है। अतः सम्पूर्ण शरीर-विशेषकर सिर इसका प्रत्याधान है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! प्राण तो हृदय से सम्पूर्ण

शरीर में व्याप्त है, अतः सम्पूर्ण शरीर को ही प्रत्याधान कहिये विशेषकर सिर को क्यों कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"शरीर तो प्रत्याधान है ही। किन्तु भगवन्! समस्त शरीर में सिर ही मुख्य है। हाथ पैर आदि को काट दो तो भी प्राण शरीर में बने ही रहते हैं, किन्तु सिर को काट दो तो प्राण नहीं रहते। अतः सिर ही प्रत्याधान है। यही उसका द्वितीय रहने का स्थान है।"

शौनकजी ने पूछा—"स्थूणा—खूँटा—क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"बछड़ा जिसमें बँधा रहता है, उसे खूँटा कहते हैं। यह जीवात्मा ही खूँटा है, क्योंकि प्राण जीव में बँधा रहता है। यह जो श्वास उच्छ्वास रूप प्राण है यही जीव के रहने की पहिचान है। अतः यह प्राण रूपी बछड़ा शरीर के भीतर रहने वाले जीवात्मा से बँधा हुआ है।"

शौनकजी ने पूछा—"दाम—रस्सी—क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"रस्सी बछड़ा के शरीर में भी बँधी रहती है और खूँटे में भी बँधी रहती है। दोनों को टिकाये रहती है। बछड़ा के शरीर से खुल जाय, तो भी बछड़ा स्वतन्त्र हो जायगा, और बछड़े के शरीर में बँधी रहे, खूँटे से खुल जाय, या खूँटा उखड़ जाय तो भी बछड़ा बँधा नहीं रह सकता स्वतन्त्र हो जायगा। जैसे बछड़ा और खूँटे को बाँधे रहने का आधार रस्सी है वैसे ही जीव और प्राण को बाँधे रहने की रस्सी अन्न है। अन्नमय ही प्राण है। अन्न ही जीवन है। विविध भाँति के भोज्य पदार्थ—खाने पीने वाला अन्न ही प्राणों की रस्सी है। यह शरीर प्राण रूप बछड़े के बाँधने का घर है। प्राण ही बछड़ा है। बछड़े का प्रथम निवास हृदय था, दूसरा गोसदन, इन्द्रियाँ ही इसके घूमने का स्थान है। जीवात्मा ही स्थूणा—खूँटा—है और

विविध भाँति के भोज्य पदार्थ ही इस बछड़े को बाँधने की रस्सी है। प्राणों को वश में करना ही मुख्य उद्देश्य है। प्राण के वश में होने पर मन की भी चंचलता नष्ट हो जायगी। मन भी वश में हो जायगा। इस बछड़े को वश में करने के लिये। इसके रहने का पूर्व स्थान को वहाँ से आकर जिस स्थान में फिर से बाँधा गया है, उस दूसरे स्थान को, जिस खूँटे से बाँधा गया है, उस खूँटे को और जिस रस्सी से खूँटे में बँधा है उस रस्सी को जानना अत्यावश्यक है। इसके वश हो जाने पर ऊपर के जो इन्द्रियों के सात छिद्र रूपी भ्रातृव्य हैं शत्रु रूपी भतीजे हैं, वे कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते। इनके परिज्ञान से उनका अवरोध हो जाता है।

यह प्राण रूप शिशु साधारण नहीं हैं। १–रुद्र, २–पर्जन्य, ३–आदित्य, ४–अग्नि, ५--इन्द्र, ६--भूमि और ७–द्युलोक (स्वर्ग) ये सात देव इसका अनुगमन करते हैं इसके निकट रहकर इसका स्तवन करते हैं। सात अक्षितियाँ ही मानों सात देव स्थानीय हैं। इनके द्वारा ही ये सात देव इस प्राण के अनुगत हैं।

शौनकजी ने पूछा—"अक्षितियाँ किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जिसका क्षय न हो उसे अक्षिति कहते हैं। ये अक्षिति शिशु की आँखों में स्थित हैं। आखों के भीतर जो लाल-लाल डोरे होते हैं। इन रेखाओं द्वारा रुद्रदेव इस प्राण के अनुगत हैं। नेत्रों में जो जल भरा रहता है वही मानों मेघ हैं, उस जल द्वारा मेघ इसके अनुगत हैं। नेत्र में जो बीच में कनीन का--तारा–है जिस तेजोमयी दृक् शक्ति से देखा जाता है, वहीं मानों आदित्य हैं, उसी के द्वारा आदित्य प्राण में प्रवेश करता है। तारा के चारों ओर जो काले वर्ण की पुतली है, उस कृष्ण वर्ण के द्वारा अग्नि उस शिशु के समीप समुपस्थित रहता है। नेत्र में शुक्र

वर्ण है, उसके द्वारा इन्द्र इसके अनुगत है। लालडोरा, नेत्रजल, तारा, कृष्णवर्ण और शुक्लवर्ण ये तो नेत्र के भीतर हैं। इनमें क्रम से रुद्र, पर्जन्य, आदित्य, अग्नि और इन्द्र ये पाँच देवता अनुगत बताये। अब नेत्र में ऊपर और नीचे के दो पलक शेष रह गये। सो, नीचे के पलक में भूमि और ऊपर के पलक में स्वर्ग-द्युलोक अनुगत हैं। ये सातों ही प्राण के इस बछड़े के अन्न होकर-भोज्य पदार्थ होकर समुपस्थित रहते हैं। यह भी प्राण की एक वासना है। आँखों में प्राणों के अन्न रूप इन सातों देवों को तत्-त् स्थानीय मानकर इन्हें प्राणों के अनुगत माने। मानो ये ातों प्राण की स्तुति कर रहे हैं। प्राणों के अन्न होकर उनके निकट समुपस्थित रहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"इस प्राणोपासना का फल क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जो इस प्रकार प्राण की उपासना करता है, उसके यहाँ चाहे जितने अतिथि आ जायँ, चाहे जितने लोगों को वह भोजन करा दे। उसका अन्न कभी घटता नहीं-क्षीण नहीं होता—

इस विषय में प्राचीन काल से यह एक श्लोक मन्त्र प्रचलित है। नीचे की ओर छिद्र वाला और ऊपर की ओर घुण्डी की भाँति उठा हुआ एक चमस है, उसमें विश्वरूप यश रखा हुआ है, उसके तीर पर एक साथ सात ऋषि रहते हैं और आठवीं वेद के द्वारा संवाद करने वाली वाणी रहती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह श्रुति ने क्या पहेली-सी कह दी।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! यह सम्पूर्ण विश्व ही एक पहेली है, समस्त शास्त्र सभी ऋषि मुनि इस पहेली को ही सुलझाने में लगे हैं। वेद भी इसे भली-भाँति नहीं सुलझा सके। वे भी

नेति-नेति कहकर मौन हो गये। बताइये न+इति+न+इति= यह नहीं है, यह नहीं है। यह नहीं है तो क्या है? इसका कोई उत्तर नहीं देता।"

शौनकजी ने कहा—"इस पहेली को तो समझाइये। नीचे छिद्र वाला चमस क्या है? ऊपर कैसे उठा है। सात महर्षि कौन हैं?"

सूतजी ने कहा—"इसे तो स्वयं श्रुति ने ही स्पष्ट किया है। श्रुति स्वयं बताती है, चमस यज्ञ के पात्रों का नाम है। जिनसे अग्नि में आहुति देते हैं, जिनसे सोमरस आदि का पान किया जाता है। उनके अनेक भेद हैं। यज्ञीय ऋत्विजों के चमस भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उन्हें तो आप जानते ही हैं। लौकिक भाषा में इसे चमचा या चम्मच कहते हैं। छोटे चम्मचों से दूध पीते हैं, खीर आदि खाते हैं। बड़े चम्मच होते हैं जिनसे दाल साग बनाते परोसते हैं। एक चमचा है। उसके ऊपर का भाग ठोस है, बड़ी घुंडी है। नीचे की ओर खुदा औंढ़ा है और उसमें लम्बा गोल-सा छिद्र है। उसमें सात लकीरें बनी हैं, एक आठवीं उनसे दूर बनी है। उस चमचा में रस भरा हुआ है उस रस को जो पीले वह फिर किसी का भोज्य न होगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह आप ने एक नयी पहेली कह दी। इसका भी अर्थ समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"यह भी प्राणोपासना की एक प्रक्रिया है। देखिये यह सिर ही मानों चमचा है। ऊपर की ओर तो सिर, चमचे की घुंडी के समान ठोस होता है, नीचे की ओर ही छिद्र होता है, मुख।

इस शिर रूपी चमचा में विश्वरूप यश क्या भरा है? मानों प्राण ही विश्वरूप यश है। शिर में-शरीर में-प्राण न रहें तो

यश हीन चमचा है। सात जो लकीरें हैं मानों वे ही सप्त ऋषि हैं। आठवीं जो लकीर है, वह वेदों का व्याख्यान करने वाली वाणी है। वह आठवीं लकीर रूप वाणी वेदों का सम्वाद करती है।"

शौनकजी ने कहा—"और स्पष्ट रूप से समझाइये।"

सूतजी बोले—"श्रुति स्वयं समझाती है। इस सिर रूप चम्मच में जो लकीर रूप सात छिद्र हैं, वे ही मानों सप्तर्षि हैं। सात छिद्र कौन-कौन से हैं? दो आँखों के, दो कानों के, दो नासिका के और एक मुख ये ही सात ऋषि हैं। इनमें से गौतम तो दक्षिण कान हैं और भरद्वाज बायाँ कान है। विश्वामित्र दाहिना नेत्र है, जमदग्नि बायाँ नेत्र है। वसिष्ठ दायीं ओर के नासिका छिद्र हैं, कश्यप बायीं ओर के नासिका छिद्र हैं। ये ६ छिद्र तो ६ ऋषि स्थानीय हो गये। अब एक छिद्र बचा मुख और सात ऋषियों में एक ऋषि बचे अत्रि। यह मुख ही अत्रि स्थानी है मुख में वाक इन्द्रिय रहती है और मुख के ही द्वारा अन्न का भक्षण किया जाता है। अत्रि को अत्ति समझो अत्ति जो खाय। इस प्रकार जो ये सात प्राण के भक्षण करने वाले भोग भोगने वाले स्थान हैं। जो इस रहस्य को भली-भाँति जान लेता है। इस भाव से चमस मे भरे यश रूप अन्न का भक्षण करता है, फिर वह किसी का अन्न नहीं होता। अर्थात् फिर वह किसी भी प्राणी का भोग्य नहीं बनता। वह सब का भोक्ता हो जाता है। संसार के समस्त पदार्थ इसके अन्न हो जाते हैं। यही इस प्राणोपासना का फल है।"

सूतजी कह रहे हैं—"इस प्रकार मुनियो! यह प्राणोपासना कही गयी है। यही प्राणों का प्राण और सत्य का सत्य है। अब आगे जैसे ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन किया जायगा। उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

(१)

जो जानें जा रहस अन्न तिनि क्षीण न होवें।
सात देव विख्यात नेत्र अनुगत इनि होवें॥
चमचा नीचे छिद्र उठ्यो ऊपर घुण्डी वर।
विश्वरूप यश निहित रहें ऋषि सात तीर पर॥
वाक् आठवीं हू कही, चमस कह्यो सिर प्राण यश।
उभय कान के छिद्र जो, गौतम अरु भर-द्वाज अस॥

(२)

विश्वामित्र जमदग्नि नेत्र के इन्द्रिय गोलक।
कश्यप और वसिष्ठ–नासिका छिद्र अमोलक॥
मुख के द्वै हैं काज अन्न खावे वच बोले।
अत्रि अत्ति तिहि कहे, उपासन नर नहिँ डोले॥
करैं उपासक उपासन, भोक्ता सो बनि जात है।
भक्ष्य न काहू को बनै, वह सबही कूँ खात है॥

ब्रह्म के दो रूप

(२२०)

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥❀

(बृ० उ० २ अ० ३ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

ब्रह्म रूप द्वै कहे मर्त्य–अम्मृत, स्थित–यत् है ।
सत्–त्यत्, मूर्त अमूर्त, वायु–नभ भिन्न मूर्त है ॥
यह सत् स्थित है मर्त्य सकल इनिको यह रस है ।
यह सत् को रस कह्यो जगत महँ सतत तपत है ।
अन्तरिक्ष अरु वायु ये अमृत अमूर्त अधार है ।
यत् त्यत् अमृत अमूर्त को, मण्डल पुरुषहि सार है ॥

ब्रह्म का कोई अर्थ नहीं, परिभाषा नहीं, क्योंकि अर्थ और परिभाषा ये तो ब्रह्म के पश्चात् के परिवर्तनशील शब्द हैं । परिभाषा का तात्पर्य कहीं कुछ होता है, कहीं कुछ । किन्तु ब्रह्म जिस भाव में व्यवहृत है, वह नित्य, कूटस्थ, सत्य, ज्ञानमय, सन्मय, चिन्मय तथा आनन्दमय है । उसकी कोई परिभाषा नहीं, उसकी

❀ निश्चय ही ब्रह्म के दो रूप हैं । एक तो मूर्त रूप, दूसरा अमूर्त रूप । उन दोनों को ही मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् तथा सत् और त्यत् भी कहा जाता है ।

छप्पय

(१)

जो जानें जा रहस अन्न तिनि क्षीण न होवें।
सात देव विख्यात नेत्र अनुगत इनि होवें॥
चमचा नीचे छिद्र उठ्यो ऊपर बुएडी वर।
विश्वरूप यश निहित रहें ऋषि सात तीर पर॥
वाक् आठवीं हू कही, चमस कह्यो सिर प्राए यश।
उभय कान के छिद्र जो, गौतम अरु भरद्वाज अस॥

(२)

विश्वमित्र जमदग्नि नेत्र के इन्द्रिय गोलक।
कश्यप और वसिष्ठ—नासिका छिद्र अमोलक॥
मुख के द्वै हैं काज अन्न खावे वच बोले।
अत्रि अत्ति तिहि कहे, उपासन नर नहिँ डोलें॥
करैं उपासक उपासन, भोक्ता सो बनि जात है।
भक्ष्य न काहू को बनै, वह सबही कूँ खात है॥

—

ब्रह्म के दो रूप

(२२०)

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥*

(वृ० उ० २ अ० ३ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

ब्रह्म रूप द्वै कहे मर्त्य–अम्मृत, स्थित–यत् है ।
सत्–त्यत्, मूर्त अमूर्त, वायु–नभ भिन्न मूर्त है ॥
यह सत् स्थित है मर्त्य सकल इनिको यह रस है ।
यह सत् को रस कह्यो जगत महँ सतत तपत है ।'
अन्तरिक्ष अरु वायु ये अमृत अमूर्त अधार है ।
यत् त्यत् अमृत अमूर्त को, मण्डल पुरुषहि सार है ॥

ब्रह्म का कोई अर्थ नहीं, परिभाषा नहीं, क्योंकि अर्थ और परिभाषा ये तो ब्रह्म के पश्चात् के परिवर्तनशील शब्द हैं। परिभाषा का तात्पर्य कहीं कुछ होता है, कहीं कुछ। किन्तु ब्रह्म जिस भाव में व्यवहृत है, वह नित्य, कूटस्थ, सत्य, ज्ञानमय, सन्मय, चिन्मय तथा आनन्दमय है। उसकी कोई परिभाषा नहीं, उसकी

---

* निश्चय ही ब्रह्म के दो रूप हैं। एक तो मूर्त रूप, दूसरा अमूर्त रूप। उन दोनों को ही मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् तथा सत् और त्यत् भी कहा जाता है।

कोई उपमा नहीं, उसकी किसी से समता नहीं, उसका कोई विशेषण नहीं। वह अवाङ्मनस् गोचर है।

तथापि स्वाध्याय प्रवचन के लिये, कथनोपकथन के लिये उनका नाम निर्देश किया जाता है। वह ब्रह्म नाम से निर्दिष्ट है ब्रह्म का शाब्दिक अर्थ है, जो बढ़ता ही जाय, जिसमें घटने का-चय होने का प्रश्न ही न उठे। जो निरन्तर बढ़ता ही रहे। कहाँ तक बढ़े? कितना बढ़े? इसकी कोई सीमा नहीं, इयत्ता नहीं, परिधि नहीं। जो निस्सीम भाव से बढ़ता जाय (बृंहति=बढ़ते= निरतिशय महत्त्व लक्षण वृद्धिमान् भवति=इति-ब्रह्मः) उस जिसके बढ़ने की कोई सीमा ही नहीं तो वह निराकार है या साकार। वह निराकार भी है, साकार भी है और निराकार साकार से परे भी है। एक बात कहो, या निराकार मानो या साकार? एक में दोनों धर्म कैसे रह सकते हैं? यही तो बात है यह तुम लौकिक व्यवहार की बात कह रहे हो। वह तो लोकातीत है। विरुद्ध धर्माश्रयी है। वह निराकार रह कर भी समस्त आकारों का निर्माता है। यदि वह कोरा निराकार ही रहे, तो साकार जीवों को उसकी प्रतीति कैसे हो। इसलिये वह साकार भी बन जाता है। साकार होकर भी वह किसी एक आकार के बन्धन में नहीं बँधता कि वह दो भुजा ही वाला हो। या चार ही भुजा वाला हो। जब वह साकार होता है, तो उसके नाम, रूप भजने वालों की भावनानुसार होते हैं। जैसी जिसकी भावना है, उपासना है, साधना है, उसे उसके वैसे ही रूप दिखायी देते हैं और अपनी भावनानुसार ही उनके नाम भी होते हैं। इसलिये उसके सहस्र नाम हैं। सहस्र शब्द यहाँ अनन्त का वाचक है। उसके अनन्त नाम हैं। वेदों में उसे ब्रह्म कहा है। कापिल उसे सिद्ध कहते हैं। पातञ्जल उसे क्लेश कर्म विपाकाशय से अपरामृष्ट

पुरुष विशेष ईश्वर कहते हैं। महापाशुपत निर्लेप स्वतन्त्र कहते हैं। वैष्णव उसी को पुरुषोत्तम कहते हैं। पौराणिक उसे प्रपितामह कहते हैं। याज्ञिक यज्ञ पुरुष, सौगत सर्वज्ञ, दिगम्बर निरावरण, मीमांसक कर्म, चार्वाक लोक व्यवहार, सिद्ध नैयायिक यावदुक्तोपपन्न तथा शिल्पीगण विश्वकर्मा कहाँ तक गिनावें शैव उन्हीं को शिव, वैष्णव विष्णु, शाक्त शक्ति, गाणपत्य गणेश और सौर्य सूर्य के नाम से उन्हें पुकारते हैं। और वे यह सब हैं। यदि इनमें से एक भी असत्य होता, तो वे सर्वव्यापक सर्वत्र विद्यमान नहीं हो सकते थे। अतः जो कहते हैं वे निराकार ही हैं, निर्गुण ही हैं, वे हठधर्मी हैं। इसके विपरीत जो कहते हैं वे सदा सर्वदा साकार ही हैं, सगुण ही हैं, उनके चार ही हाथ हैं, वे सदा द्विभुज ही हैं। वे भी हठी हैं। वे सर्व हैं, सब कुछ हैं। तुम जो मान रहे हो वह भी सत्य और तुम्हारे विरोधी जो मान रहे हैं वह भी सत्य और जो सत्य कहते हैं उनके भी वे ही सत्य हैं। यही तुम्हारी परिभाषा सत्य है, परन्तु व्यवहार में ताओ ब्रह्म क्या है ? तो श्रुति ने एक व्यावहारिक परिभाषा की है—ये जो चराचर समस्त स्थावर जंगम प्राणी हैं,जिसके द्वारा ये सब उत्पन्न होते हैं, जिसके सहारे से समस्त प्राणी जीवित रहते हैं और अन्त में सभी जिसमें लीन हो जाते और अन्त में जिससे विमुक्त हो जाते हैं, उसी को जानना चाहिये। वही ब्रह्म है। अर्थात्, सृष्टि स्थिति प्रलय और मोक्ष का जो कारण है वही ब्रह्म है। उसी को परम सत्य कहकर भागवतकार ने सर्वप्रथम उन्हें नमस्कार किया है। उस ब्रह्म की ही उपासना के सम्बन्ध में श्रुति बता रही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पीछे कह आये हैं, वह सत्य का भी सत्य है और प्राण ही सत्य है। इसी की पुष्टि करने के

निमित्त ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन किया जाता है। उपासना के ही निमित्त पहिले आधिदैविक रूप का वर्णन करते हैं। ब्रह्म के दो रूप हैं। एक तो मूर्त रूप है अर्थात् दीखने वाला मूर्तिमान रूप और दूसरा अमूर्त न दीखने वाला सूक्ष्म अमूर्त रूप। उन्हीं को मर्त्य-अमृत, स्थित-यत् तथा सत्-त्यत् भी कहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"मूर्त-अमूर्त तो समझ लिया। मर्त्य अमृत क्या ?"

सूतजी ने कहा—"मर्त्य तो वह जो मर जाय-विनष्ट हो जाय। अमृत जो मरे नहीं, विनष्ट न हो।"

शौनकजी ने पूछा—"स्थित-यत् क्या ?"

सूतजी ने कहा—"स्थित तो वह जो व्यापक न हो, एक देश में ही स्थित रहे। यत् वह जो सार्वदेशिक हो, व्यापक हो।"

शौनकजी ने पूछा—"सत्, त्यत् क्या ?"

सूतजी ने कहा—"प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला सत् अर्थात् जो प्रत्यक्ष हो परोक्ष न हो। इसके जो विपरीत हो, सर्वदा परोक्षरूप से कहे जाने योग्य हो, जो अपनी पूर्वावस्था त्यागने वाला हो वही त्यत् है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! श्रुति तो पहेली-सी कह देती है। मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत, स्थित-यत्, सत्-त्यत्। यह बात क्या हुई ? ब्रह्म के दो रूपों का इसमें वर्णन कहाँ आया ?"

हँसकर सूतजी बोले—"भगवन् ! देवता परोक्षप्रिय ही होते हैं। एक ही बात घुमा फिराकर बार-बार कही जाती है। श्रुति अवश्य पहेली कहती है, किन्तु स्वयं उसका समाधान भी तो करती जाती है। अब जैसे मूर्त-अमूर्त को ही ले लीजिये। ये मूर्त-अमूर्त विशेष्य हैं, शेष तीनों इसके विशेषण हैं। मूर्त अमूर्त का भाव समझ में आ जायगा तो मर्त्य-अमृत, स्थित-

यत् और सत्—त्यत् का भी अर्थ समझ लेंगे। तो पहिले मूर्त का ही अर्थ समझें। पंच भूतों में दिखायी देने वाले प्रत्यक्ष दीखने वाले कौन-कौन से भूत हैं। पृथ्वी दीखती है, यह मूर्त है, जल दीखता है, यह भी मूर्त है, प्रकाश—सूर्य-चन्द्र-अग्नि का तेज प्रत्यक्ष दीखता है यही भी मूर्त है। भूतो मे पृथ्वी, जल और तेज ये ही तीन प्रत्यक्ष दीखते हैं, इसलिये ये मूर्त हैं। इनसे जो भिन्न वायु और आकाश हैं ये दोनों आँखो से दिखायी नहीं देते इसलिये इन दोनो की अमूर्त संज्ञा है। जो मूर्त है उसी को मर्त्य कह लो, स्थित कह लो, सत् कह लो, एक ही बात है। इन पृथ्वी, जल और तेज का अर्थात् मूर्त, मर्त्य, स्थित और सत् का सार क्या है ? इनका रस क्या है ? इनका रस है जो सवितृ-मण्डल है—सूर्य का दिखायी देने वाला मण्डल ही इन मूर्त पदार्थों का सार है। सूर्य न हो, जल कहाँ से बरसे। जल न बरसे तो भूमि में उर्वरापन कैसे आवे। तेज से ही जल होता है और जल से ही पृथ्वी। अतः इन मूर्त का सार सूर्यमण्डल ही है। जो सूर्य सतत तपता ही रहता है। यह सत् का रस है। इस प्रकार मूर्त का वर्णन तो हो गया। अब अमूर्त का वर्णन सुनिये। पृथ्वी, जल और तेज ये तो मूर्त है। इन तीनों से भिन्न जो वायु और अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश हैं, वे अमूर्त हैं। उन्हें अमृत कह लो, यत् कह लो या त्यत् कह लो। सब पर्यायवाची शब्द हैं, सबका अर्थ एक ही है। अब मूर्त का सार तो सवितृमण्डल बता दिया, अमूर्त का सार क्या है ?"

आप ध्यानपूर्वक देखें तो सवितृमण्डल में एक पुरुष-सा दृष्टिगोचर होता है, सबको वह दिखायी न देगा, योगियों को ही वह दिखायी देता है। सवितृमण्डल मध्यवर्ती नारायण का ध्यान बताया गया है। अतः इस अमूर्त का अमृत, यत् तथा

त्यत् का सार सवितृमण्डलवर्ती पुरुष है। इस प्रकार मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत, स्थित-यत् तथा सत्-त्यत् रूप जो ब्रह्म के दो रूप हैं उनकी अधिदैवत भाव से की हुई उपासना है। इसे अधिदैवत दर्शन भी कहते हैं। अतः यह उपासना तो यहाँ समाप्त हो गयी। अब इस मूर्त और अमूर्त की अध्यात्मभाव से की जाने वाली उपासना को भी सुनिये।

आधिदैवत उपासना में समष्टि रूप में जो पृथ्वी, जल और तेज ये तीनों मूर्त बताये। अब इस अध्यात्म उपासना में शरीरान्तर्गत जो पृथ्वी भाग वाले पदार्थ हैं जैसे मांस, मज्जा, अस्थि आदि पार्थिव भाग है, मूत्र, स्वेद, नेत्र जल, आदि जलीय भाग और वीर्य, कफ नेत्र का शीशा आदि तेजीय भाग ये तो मूर्त हैं। इन्हें ही मूर्त कहो, मर्त्य कहो, स्थित तथा सत् कहो एक ही बात है क्योंकि ये कठिन, विनश्वर, अव्यापक तथा प्रत्यक्षोपलभ्य हैं। इसलिये इनकी मूर्त संज्ञा है। अब इनका सार क्या है? जो नेत्र हैं वही इस मूर्त का सार है, क्योंकि आदित्य ही इस इन्द्रिय का अधिष्ठातृ देवता है। अतः यह सत् का सार है। अब अध्यात्म रूप में अमूर्त को बताते हैं।

अधिदैवत उपासना में समष्टि वायु और समष्टि आकाश को अमूर्त बताया था यहाँ अध्यात्म उपासना में शरीरान्तर्गत वायु जिसे प्राण कहते हैं वह प्राण और शरीर के भीतर का जो आकाश है वे ही अमूर्त हैं। इन्हें ही अमृत, यत्-त्यत् कह लो। इनका सार क्या है। जो नेत्रान्तर्गत पुरुष है यही इसका-त्यत् का सार है, रस है।

अब उपासना में विशेष प्रवृत्त कराने के निमित्त ब्रह्म के मूर्त, अमूर्त दो भेद बताने के अनन्तर ब्रह्म के रूप को बताते हैं।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! ब्रह्म तो अरूप है। अरूप के रूप का वर्णन क्या?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! फिर वही बात आप दुहरा रहे हैं। ब्रह्म को आप अपने प्राकृत नियमों में बाँध क्यों रहे है। यह हम मानते हैं ब्रह्म अरूप है–रूप रहित है–किन्तु वह रूपवान् हो जाय, तो उसे कोई निषेध करने वाला भी तो नहीं। वह तो विरुद्ध धर्माश्रयी है। रूपवान् भी है, अरूप भी है, साकार भी है, निराकार भी है, सगुण भी है निर्गुण भी है, वह रूपवान् हो जाय तो क्या बुराई है।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छी बात है सूतजी! उपासना के निमित्त श्रुति ने रूप बताया है तो उसका वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"मैं श्रुति-सम्मत ही तो बात कह रहा हूँ। ६ प्रकार के रूपों का वर्णन है। १—कभी तो वह कुछ पीलापन लिये लाल दीखता है जैसे कुसुम्भ के फूल का रंग। कुसुम्भ के वह्नि, शिख और महारजन नाम है। जैसे कुसुम्भी रङ्ग का वस्त्र।

२—कभी पांडु रङ्ग का भेड़ की ऊन का वस्त्र जैसा दिखाई देता है। वैसे पाण्डुर सफेद का नाम है, किन्तु बगुला के पंख के समान सफेद नहीं। सफेद भेड की ऊन के कपडे में कुछ पीलेपन की-सी झलक आती है। अतः पीलापन लिये हुए सफेद ऊनी वस्त्र के समान दीखता है।

३—कभी वर्षा मे जो लाल रङ्ग की एक बीर बधूटी (समल गुड़िया) जिसे इन्द्र गोप भी कहते हैं। उसके समान गहरे लाल रङ्ग का दीखता है।

४—कभी अग्नि की ज्वाला के सदृश प्रकाशवान लाल रङ्ग का दिखायी देता है।

५—कभी श्वेत कमल के सदृश स्वच्छ दिखायी देता है। पुण्डरीक सफेद कमल का नाम है।

६—कभी बिजली की जैसी चमक वाला दिखायी देता है ?"

शौनकजी ने पूछा—"इन रङ्गों का अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी बोले—"ब्रह्मन् ! जिन्होंने इस जन्म में या पूर्व जन्म में उपासना नहीं की है, वे इस रहस्य को समझ नहीं सकते। जिन्होंने इस जन्म में या पूर्व जन्म में उपासना की है। चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न किया है, उन्हें उपासना के समय साधारण चलते फिरते, उठते बैठते नेत्रों के सम्मुख ऐसे दिव्य रङ्ग दिखायी देते हैं जिनकी संसार की किसी भी वस्तु से उपमा नहीं दी जा सकती। इन छै रङ्गों में तीन ही रङ्गों की प्रधानता है। (१) लाल, (२) पीला, और (३) सफेद। क्योंकि कुसुम्भ का रङ्ग कुछ पीलाई लिये लाल हैं, अग्नि शिखा के समान। पीली (हल्दी) और सफेदी (चूना) मिलाने पर लाल--रोली का रंग बन जाता है। अतः कुसुम्भी वस्त्र अच्छा पीला और ऊन का सफेद वस्त्र पीली झलक लिये सफेदी ये दो रंग तो पीले में आ गये। इन्द्र बधूटी (समल गुड़िया) अग्नि की ज्वाला और बिजली ये तीनों लाल रंग में आ गये और सफेद कमल तथा सफेद ऊन का वस्त्र ये सफेद में आ गये। काले वर्ण में सबका समाहार हो जाता है। काली कमरी पर दूसरा रंग चढ़ता नहीं। अतः जैसे चार युग हैं वैसे ही श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण चार रंग हैं। उपासक के नेत्रों के सम्मुख ये ही चार रंग कभी हलके कभी गाढ़े वृत्ताकार दिखायी देते हैं। कभी तो गोल-गोल इतना गाढ़ा लाल रंग दीखता है, कि उसके सम्मुख

इन्द्रगोप वधूटी (सनल गुड़िया) का रंग तुच्छ दिखायी देता है, कभी हलका पीला रंग दीखता है, कभी श्वेत कमल की भाँति दूध के झाग के समान शुभ्र गोल ज्योति दीखती है, और कभी अंजन पर्वत के समान तेजयुक्त काला-काला दिखायी देता है। काला दिखायी दे तो समझो हमारे शरीर में अभी तमोगुण की प्रधानता है, रक्त या पीला दिखायी दे तो समझो रजोगुण की प्रधानता है, और स्वच्छ सफेद दिखायी दे तो समझो सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। ये सब उपासना की परिपक्वता प्रदर्शित करने के निमित्त ब्रह्म के रूप हैं। किन्तु ये ही ब्रह्म नहीं हैं। बिजली की-सी चमक जब दिखायी देने लगे तो उस साधक को श्री बिजली की चमक के समान सर्वत्र फैल जायगी। उसका यश सर्वत्र व्याप्त हो जायगा। यदि वह ब्राह्मण है तो उसकी ब्राह्मी श्री बढ़ जायगी और यदि वह क्षत्रिय है तो उसकी शौर्य श्री बढ़ जायगी और वह वैश्य है तो उसकी सम्पत्ति श्री बढ़ जायगी और वह शूद्र है तो उसकी शुद्धि श्री बढ़ जायगी। यह उस नेत्रों के सम्मुख विद्युत् की चमक सदृश ब्रह्म के तेज दर्शन का प्रभाव है। किन्तु साधक इतने से ही सन्तुष्ट न हो जाय। ब्रह्म का–वेद का आदेश है नेति नेति।"

शौनकजी ने पूछा—"नेति नेति क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! न+इति=नेति होता है। अर्थात् इतना ही उपदेश करने पर श्रुति कहती है। मूर्त, अमूर्त, लाल, पीला, सफेद तथा काला बस, इतना ही ब्रह्म नहीं है। यह भी नहीं, यह भी नहीं।"

शौनकजी ने कहा – "तब तो अब तलक जो कुछ कहा गया नेति नेति कहकर ऐसा आदेश देकर श्रुति ने सगुण रूप का ब्रह्म के रंगों का सर्वथा निषेध ही कर दिया।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप तो एक ही बात को बार-बार दुहराते हैं। नेति नेति कहकर निषेध कहाँ किया। सगुण को भी नेति कहा, निर्गुण को भी नेति कहा। अर्थात् वह सगुण भी नहीं निर्गुण भी नहीं। सगुण भी है और निर्गुण भी है। अनेक श्रुतियों में उसे सहस्र शीर्षा आदि कहकर उसकी स्तुति की गयी है अतः नेति नेति यह सर्वश्रेष्ठ आदेश है। नेति नेति से बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। प्राण सत्य है किन्तु प्राण ही ब्रह्म नहीं हैं। नेति नेति। सत्य ही ब्रह्म है किन्तु वह सत्य ही नहीं। सत्य का भी सत्य है। प्राण का भी सत्य है। मन का भी मन है। वह सबका सब है। सर्वस्व है। सर्वत्र है, सर्वाधार है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वव्यापक है, सर्वात्मा है, सर्व का भी सर्व है। सत्य का सत्य, सर्व का सर्व यह उसका पुकारने का नाम है, वैसे तो वह नामी अनामी सब कुछ है। उसी की खोज करनी चाहिये उसे ही प्राप्त करना चाहिये। संसारी धन-वैभव, सुख-सम्पत्ति सब मिथ्या है, नाशवान हैं अन्तवन्त है। अनाम होते हुए भी वे नामी हैं, अरूप होते हुए भी वे रूपवान् हैं, निर्गुण होते हुए भी वे सगुण हैं। निराकार होते हुए भी नाना अवतार धारण करके नाना भाँति की लीलायें करते हैं। उनके सम्बन्ध में ऐसे ही हैं ऐसा कोई नहीं कह सकता। कहना ही चाहे तो नेति नेति कहे। क्योंकि यही ब्रह्म का आदेश है यही सर्वोत्कृष्ट है। यही सत्य का सत्य है। इसी बात को सिद्ध करने अब आगे याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का सम्वाद कहा गया है, जिसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

कहँ फेरि अध्यात्म देहगत भूमि, तेज, जल।
कहे मूर्त अब कहूँ अमूर्त अकाश प्राण मल॥
मूर्त अमूर्तहु सार नेत्र अरु पुरुष नेत्र अँग।
वस्त्र कुसुंवा, श्वेत ऊन-पट, इन्द्रगोप रँग॥
पुण्डरीक, पावकशिखा, विजुरी सम तिहि चमक है।
ाधक विजुरी चमक सम, नेति नेति आदश है॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय मे
तृतीय ब्राह्मण समाप्त।

याज्ञवाल्क्य-मैत्रेयी-सम्वाद

[२२१]

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवाल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति *

(बृ० उ० २ अ० ४ ब्रा० १ म०)

छप्पय

द्वै पत्नी मुनि याज्ञवाल्क्य की मैत्रेयी बड़ ।
छोटी कात्यायनी एक दिन बोले मुनिवर ॥
ऊपर जानों चहूँ करूँ बटवारो धन को ।
मैत्रेयी सुनि कहे—तोष धन तें नहिं मन को ॥
सुनि मुनि बोले द्रव्य तें, होइ प्राप्त अमृतत्व नहिं ।
होहुँ अमर साधन कहो, पत्नी बोली पुनि मुनिहिं ॥

एक अन्ध परम्परा चल गयी है। जिसके पास भोग की सामग्रियाँ जितनी ही न्यून हैं, वह अपने आप को उतना ही अधिक दुखी समझता है और सोचता है जिसके पास मुझसे अधिक भोग सामग्रियाँ हैं वह मुझसे अधिक सुखी है। इससे

---

* "मैत्रेयि" ऐसा सम्बोधन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने अपनी बड़ी पत्नी मैत्रेयि से कहा—"मैं इस स्थान से ऊपर जाने वाला हूँ। इसलिये मेरी इच्छा है इस कात्यायनी के साथ धन का बटवारा कर दूँ। तुम दोनों में धन को बराबर-बराबर बाँट दूँ।"

अधिक सामग्रियों वाला समझता है, मुझसे अधिक सामग्री वाला सुखी है। इस परम्परा का कहीं अन्त नहीं। शतपति सहस्रपति को सुखी समझता है, सहस्रपति लक्षपति को, लक्षपति करोड़पति को, करोड़पति अरबपति को, अरबपति पद्मपति को और पद्मपति शङ्खपति को सुखी समझता है। किन्तु वास्तव में देखा जाय तो इनमे से कोई भी सुखी नहीं। उपनिषद् तथा अन्य सभी शास्त्रों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि—समस्त पृथ्वी भर के जितने खाने पीने के धन्यादि अन्न हैं। पृथ्वी भर का सुवर्ण, समस्त संसार भर के उपयोगी पशु, समस्त वसुन्धरा की सुन्दरी स्त्रियाँ ये सबके सब भोग्य पदार्थ एक ही व्यक्ति को प्राप्त हो जायँ, तो भी ये सबके सब पदार्थ उस एक व्यक्ति को सन्तुष्ट करने मे समर्थ नहीं। उसे सुखी करने के लिये पर्याप्त नहीं, क्योंकि कामनाओं की भूख का कहीं अन्त नहीं। विषयों के भोग की कामना प्राणी को हत कर देती है, जर्जरित बना देती है। विषयों के भोगने से भोग वासना शान्त नहीं होती हैं प्रत्युत जितना ही भोगो उतनी ही कामना और अधिक बढती जाती है, जैसे प्रज्वलित अग्नि मे जितनी ही घृत की आहुतियाँ दो, अग्नि बुझने के स्थान में और भी अधिक जलने लगती है। भड़कने लगती है। भोगों को जितना ही भोगोगे भोगेच्छा उससे दश गुनी बढ़ती जायगी। तब क्या करें ? उस भोग वासना का शीघ्र-से-शीघ्र मोक्ष कामी को–सच्चे सुख की इच्छा वाले को–परित्याग कर देना चाहिये। शान्ति त्याग मे है। भोगों के संग्रह मे–भोगो के उपभोग मे–शांति नहीं, अधिकाधिक अशान्ति ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! शास्त्र भोग वस्तुओं के संग्रह का आग्रह नहीं करते। वे तो त्याग को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करते हैं।

शास्त्र मरण धर्म वाले नश्वर, क्षणिक पदार्थों के संग्रह के उपायों को श्रेष्ठ नहीं मानते। वे तो अमृत प्राप्ति के ही उपायों का प्रधानता से कथन करते हैं। शास्त्र सुख का कारण धन को नहीं बताते। वे तो सुख स्वरूप परब्रह्म को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का आग्रह करते हैं। वह सम्पत्ति को शान्ति का सुखद साधन न बताकर समस्त सद्गुणों के आलय, गुण गण निलय, समस्त कल्याणों के आलय श्रीमन्नारायण के पदारविन्द मकरन्द के पान को, उनकी शरण में जाने को, उनके प्रपन्न होने को ही शान्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन मानते हैं। अतः इसी को बताने के निमित्त याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के सम्वाद को आरम्भ करते हैं।"

महर्षि देवरात के पुत्र याज्ञवल्क्य जी थे। उन समर्थ महर्षि ने अपने विद्या गुरु वैशम्पायन जी के कहने पर उनसे प्राप्त विद्या को उगलकर सूर्यदेव की आराधना करके शुक्ल यजुर्वेद की प्राप्ति की। ये वेद विद्या में पारङ्गत थे। इन महर्षि की दो पत्नियाँ थीं। बड़ी का नाम मैत्रेयी था और छोटी का नाम कात्यायनी था। ये दोनों भी ऋषियों की पुत्रियाँ थीं और परमार्थ में निपुण थीं। शास्त्र की आज्ञा मानकर महर्षि ने गृहस्थाश्रम को स्वीकर किया था। उनका स्थान-आश्रम-पहाड़ के नीचे था। मोक्ष ही पर्वत है—गृहस्थाश्रम में नाना प्रकार की चिन्तायें लगी रहती हैं। ऊँचे उठने वाले को ऊपर जाने वाले को ममता मोह को त्यागकर इनसे ऊपर उठना चाहिये।

याज्ञवल्क्य मुनि ज्ञानी होने से मैथिल राजा जनक के आचार्य थे। राजा के यहाँ से दक्षिणा में इन्हें पर्याप्त धन मिलता था। अतः ये निर्धन महर्षि नहीं थे। ज्ञान धन, तपोधन और द्रव्यधन तीनों ही इनके यहाँ पर्याप्त थे। अब इनकी इच्छा इस नीचे के

स्थान—आश्रम—को त्यागकर ऊपर जाने की हुई। भोग का जीवन तो देख लिया। अब त्याग का जीवन बिताने का संकल्प हुआ। वैसे मुनि ब्रह्मज्ञानी थे, उनके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं था। तथापि लोक समह के लिये—त्याग का महत्त्व दिखाने के लिये—संसारी भोगों की निस्सारता सिद्ध करने के लिये उन्होंने भोगमय जीवन से ऊपर त्यागमय जीवन बिताने का विचार किया। मुनि ने सोचा—चिन्ता के तीन ही विषय हैं कामिनी, कांचन और भूमि। इन तीनों का परित्याग करके मैं निश्चिन्त होकर ऊपर एकान्त में ब्रह्म विचार करूँ। लडाई झगड़े का मूल कारण चल-अचल सम्पत्ति ही है। मेरे पश्चात् मेरी इन दोनों पत्नियों में कलह न हो इसलिये दोनों को धन सम्पत्ति बाँटकर चलना चाहिये। यही सोचकर उन्होंने अपनी बडी पत्नी मैत्रेयी को पुकारा—"अरी, मैत्रेयि !"

पति का सम्बोधन सुनकर मैत्रेयी ने कहा—"हाँ, भगवन् ! मैं आ गयी।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ।"

मैत्रेयी ने नम्रता से कहा—"कहिये।"

याज्ञवल्क्य—"अब मैं इस स्थान से—इस आश्रम से—ऊँचे स्थान पर जाना चाहता हूँ।"

मैत्रेयी ने कहा—"तो प्रभो ! मेरे लिये क्या आज्ञा है ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"मेरी इच्छा यह है, यदि तेरी भी सम्मति हो, तो यह जितना हमारे पास धन है उसका तुम दोनों चहिनों में मेरे सामने ही बटवारा हो जाय। मैं अपने हाथों ही तुम दोनों में धन का बटवारा कर दूँ।"

मैत्रेयी ने कहा—"आपकी आज्ञा तो हम दोनों को शिरो-

धार्य है ही। आप हमारे देवता हैं आप जो भी कुछ करेंगे, हमारे कल्याण के ही निमित्त करेंगे, किन्तु मैं एक बात पूछना चाहती हूँ। आज्ञा हो तो पूछूँ ?"

याज्ञवल्क्य जी ने बड़े स्नेह के साथ कहा—"हाँ-हाँ पूछो, क्या पूछना चाहती हो ?"

मैत्रेयी ने कहा—"भगवन् ! आप जो हमें धन देना चाहते हैं, वह सुख के ही लिये देना चाहते हैं। आपकी हम पर बड़ी कृपा है जो आप हमारी सुख सुविधा का इतना ध्यान रखते हैं, किन्तु प्रभो ! मेरा प्रश्न यह है कि इस संसारी द्रव्य से क्या हमें शाश्वत सुख मिल सकेगा ? क्या आप जो धन हमें दे रहे हैं उसे पाकर अथवा इस धन धान्य से पूर्ण समस्त पृथ्वी के आधिपत्य को भी पाकर मुझे परम शान्ति–शाश्वत सुख–मोक्ष अथवा अमृतत्व की प्राप्ति हो सकेगी। क्या इस संसारी धन से मैं अमर हो सकती हूँ ?"

अपनी प्रिया पत्नी के ऐसे सारगर्भित वचनों को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य जी परम प्रमुदित हुए। वे प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—"प्रिये ! तुमने बड़ा ही सुन्दर प्रश्न किया। देखो, धन से किसी को परम शान्ति--शाश्वत सुख–मोक्ष अथवा अमृतत्व की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। धन से इतना ही होगा कि भोग सामग्रियों से सम्पन्न जो-धनी लोग हैं जैसा वे भोग विलास पूर्ण जीवन बिताते हैं वैसा ही जीवन तुम्हारा हो जायगा। इस संसारी धन से कोई शाश्वत सुख की–मोक्ष अथवा अमृतत्व की–आशा रखे तो यह असम्भव है। धन से अमृतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।"

मैत्रेयी ने कहा—"भगवन् ! आप जैसे समर्थ पति को पाकर

प्रियतम आत्मा के ही निमित्त प्रिय होती है, इस विषय को समझावेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पत्नी को सुनि प्रश्न भये अति ही मुनि प्रमुदित।
बोले— तू मम प्रिया प्रश्न कीयो अति सुललित॥
आ मेरे ढिँग बैठि प्रश्न को मरम जताऊँ।
कहूँ रहसमय बात प्रेम तें तोइ सुनाऊँ॥
पति प्रिय नाहिं पति हेतुतैं, आत्मा हित पति होइ प्रिय।
नारि प्रयोजन प्रिया नहिँ, आत्माहित ही नारि प्रिय॥

सबकी आत्मस्वरूपता

(२२२)

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥*

(बृ० उ० २ अ० ४ ब्रा० ७ म०)

छप्पय

दारा, सुत, धन, विप्र, क्षात्र अरु लोक देवगन।
प्राणी, सब प्रिय होहिं आत्महित अतिप्रिय दरशन॥
दर्शनीय, श्रवणीय मनन अरु ध्यान योग है।
दरश श्रवन अरु मनन आत्मा तैं ही सब है॥
ोहि सबहिं विज्ञान तैं, आत्म ज्ञान होवै तुरत।
ात्मभिन्न द्विज जाति लखि, द्विज परास्त करिहैं सतत॥

ध्यानपूर्वक देखा जाय, सोचा जाय, मनन किया जाय, तो पता चलता है, ससार मे प्रिय वस्तु क्या है? ससार में प्यारे लगने वाले इतने ही पदार्थ हैं। दार, सुत, अन्य सगे सम्बन्धी,

* जैसे यह नगाडे का शब्द है। बजते हुए नगाडे के बाहरी शब्द को पकडने म कोई समर्थ नही हो सकता। किन्तु नगाडे को नगाडे के बजाने वाले को पकड लेने पर नगाडे का शब्द भी पकडा जा सकता है।

द्रव्यादि सम्पत्ति, उपयोगी पशु, पाँचों इन्द्रियों के सुखकर अनुकूल विषय, भूमि, यश कीर्ति आदि इनमें सोचो स्त्री प्रिय क्यों है ? क्या उसमें स्त्रीत्व है इसलिये प्रिय है। यदि स्त्रीत्व ही प्रेम की वस्तु होती तो सभी स्त्रियाँ प्यारी लगनी चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं। जिसमें आत्मीयता है, अपनापन है, वही स्त्री प्यारी लगती है। पुत्र में पुत्रपना है यदि इसलिये वह प्यारा लगता–प्रेमास्पद होता--तो सभी किसी-न-किसी के पुत्र हैं ही। सभी प्यारे लगते, किन्तु हमें प्यारा आत्मज ही लगता है क्योंकि उसमें आत्मीयता है अपनापन है। धन इसलिये प्यारा नहीं लगता कि वह उपयोगी है। धन का तो सभी उपयोग ही करते हैं। किन्तु हमें वही धन प्यारा है, जिसमें हमारी आत्मीयता हो जाय। जो धन हमारा हो जाय। धन तो सभी धन न्यास (बैंक) में रखा है। किन्तु हमें उतने ही धन से प्रेम है जितना हमारी बही में हमारे नाम लिखा हुआ है। जिस धन में हमारी आत्मीयता नहीं अपनापन नहीं, वह नष्ट हो जाय, हमें कोई कष्ट नहीं होता। किन्तु जिसमें हमारी आत्मीयता है वह नष्ट हो जाय तो हमें कष्ट होगा, उसमें वृद्धि हो जाय तो हमें हर्ष होगा। इन सब दृष्टान्तों से सिद्ध यही हुआ कि प्रियता पदार्थों में नहीं अपनेपन में है। आत्मा में है। जिस आत्मा के सम्बन्ध से अनित्य, क्षण भंगुर, नाशवान् पदार्थ भी जिनमें प्रेम का लेश मात्र भी नहीं, वे भी प्रिय लगने लगते हैं, तो जिसे आत्मा के नित्यत्व का, अमृतत्व का ज्ञान हो जाय उस आत्मा से बढ़कर प्रेमास्पद कौन होगा। फिर उसे रति करने को बाहरी वस्तुओं की आवश्यकता न रहेगी वह आत्मा से ही रति करने लगेगा। फिर उस क्रीड़ा करने को बाह्य उपकरणों की आवश्यकता न होगी, वह आत्मा के ही साथ क्रीड़ा करके सुख का अनुभव

के कारण क्षत्रिय प्रिय नहीं। अपितु वे अपने हैं। ऽ
सम्बन्धी हैं, इस हेतु से उनमें प्रियता है। लोक हैं इस
प्रिय नहीं। जिन लोकों को हमने जय कर लिया है अप
कारण ही लोक प्रिय हैं। देवताओं में देवत्व है, इसलिये
नहीं, अपितु जिन देवों में अपनापन होता है, वे उस ह
के कारण प्रिय हैं। प्राणियों के प्रयोजन के कारण प्रा
नहीं होते। अपितु अपने ही प्रयोजन के निमित्त प्राण
होते हैं। सबके निमित्त सब प्रिय नहीं होते, आत्मीय
कारण ही सबमें प्रियता है। सो, मेरी अरी, मैत्रेयि! जो भ
हैं। आत्मा में ही है। रंग फूलों में नहीं होते वे तो सूर्य में
हैं। सूर्य छिप जाते हैं, तो सब रंग एक से ही अंधकारमय ह
काले दीखते हैं। सूर्य में विभिन्न रंग हैं, जिस फूल में जिस
को ग्रहण करने की शक्ति होती है, सूर्य के संसर्ग से वह
रंग का दिखायी देने लगता है। इसीलिये प्रियता आत्मा में
है। आत्मा ही प्रेमार्णव है। उसी आत्मा को देखना चाहि
उसी आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण करना चाहिये, उसी आत
का मनन करना चाहिये। उसी का ध्यान धरना चाहिये। देखि
उस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से सभी
ज्ञान हो जाता है, क्योंकि वही सब ज्ञानों का प्रकाशक है।

मैत्रेयी ने पूछा—"भगवन्! ब्रह्म का स्वरूप क्या है?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"यह जो भी कुछ है, सब ब्र
ही-ब्रह्म तो है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जो ब्रह्म
अतिरिक्त वस्तुओं को देखता है, वह पराभव को प्राप्त होता है
अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, समस्त लोक सम्पूर्ण देवगण, सभी भू
गण तथा संसार के सभी चराचर, स्थावर जङ्गम जो भी कुछ
सब आत्मा ही हैं। आत्मा के अतिरिक्त अन्य का अस्ति

जैसे कोई दूर देश में नगाड़ा बज रहा है, नगाड़े का शब्द हमारे कानों में आ रहा है, किन्तु यदि हम उसे हाथ से पकड़ना चाहें तो वह पकड़ा नहीं जा सकता। किसी यन्त्र में उस शब्द को भर भी लो, तो दूसरे यन्त्र पर चढ़ाने पर जैसे वह पहिले शब्द सुनायी पड़ रहा था वैसे ही सुनायी पड़ेगा। उसका निरोध नहीं किया जा सकता। यदि आप शब्द को छोड़कर शब्द जहाँ से आ रहा है, उसके मूल कारण को जाकर पकड़ें। बजने वाले नगाड़े को और बजाने वाले व्यक्ति को जाकर पकड़ लें तो शब्द भी पकड़ा जा सकता है, अर्थात् उसे अपने वश में किया जा सकता है। इसी प्रकार विषयों से दूर हटने से तथा इन्द्रियों के निरोध से मन भी निरुद्ध किया जा सकता है। बाह्यार्थ ज्ञान पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिये सबसे पहिले मन की वृत्तियों के निरोध के लिये इन्द्रियों का निरोध अत्यावश्यक है। इसी प्रकार दूसरा दृष्टान्त लीजिये।

जैसे कोई व्यक्ति शङ्ख बजा रहा है, शङ्ख का शब्द श्रवणों में सुनाई पड़ता है। हम चाहें केवल शङ्ख के शब्द का निरोध करलें उसे हाथ से पकड़ लें तो असम्भव है। आप शब्द के पीछे न पड़कर जिसमें से शब्द हो रहा है जो शङ्ख को बजा रहा है, उस बजाने वाले को और साथ ही शङ्ख को पकड़ लें तो बजाने वाले, और शङ्ख के निरोध के साथ-ही-साथ शब्द का भी निरोध हो जायगा। इसी प्रकार इन्द्रियों के निरोध से अन्तःकरण का भी निरोध हो जाता है। निरुद्ध अन्तःकरण में आत्मा के ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। इसी प्रकार इसी विषय में तीसरा भी दृष्टान्त लीजिये।

जैसे दूर से वीणा का शब्द सुनायी दे तो आप वीणा के शब्द को हाथ से पकड़ना चाहें तो नहीं पकड़ सकते। यदि वीणा

को या वीणा बजाने वाले को जाकर पकड़ लें, तो शब्द भी पकड़ा जा सकेगा। इसी प्रकार बिखरी हुई चित्त की वृत्तियों को आप निरुद्ध करना चाहें तो वे ऊपर से निरुद्ध न होंगी। करणों को–इन्द्रियों को–जाकर निरुद्ध कर लोगे, विषयों से इन्द्रियों को हटाकर अन्तःकरण में लगा दोगे तो अन्तःकरण निरुद्ध हो जायगा। तब बाह्य वस्तुओं का जो आत्मा से भिन्न देखने की प्रवृत्ति है वह रुक जाती है। शुद्ध स्वच्छ निर्मल हुए–निरुद्ध हुए–अन्तःकरण में आत्मा का साक्षात्कार होने लगता है।

मैत्रेयी ने पूछा—"भगवन्! आत्मा तो निर्लेप है, शुद्ध है, चैतन्य है। इससे ये इतने पदार्थ कैसे पैदा हो जाते हैं। आत्मा को इसके लिये बड़ा भारी प्रयत्न करना पड़ता होगा?"

यह सुनकर हँसते हुए महामुनि याज्ञवल्क्य जी बोले—"अरी मैत्रेयि! मनुष्य को स्वांस लेने में कुछ प्रयत्न करना पड़ता है क्या? देखो, कोई अग्नि में गीली लकड़ी रखकर फूँक से या पंखे से अग्नि को प्रज्वलित करता है, तो अग्नि में से बिना प्रयत्न के ही अपने आप जैसे धूँआ निकलने लगता है, धूँआ निकालने को कोई पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार उस परमात्मा से बिना प्रयत्न के स्वास के समान ये ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व वेद, इतिहास, पुराण, नाना प्रकार की विद्यायें, उपनिषदें भाँति-भाँति की छन्दों में बद्ध श्लोक, विविध शास्त्रों सम्बन्धी सूत्र, विविध भाँति की वृत्तियाँ, भाँति-भाँति के शास्त्रीय व्याख्यान इस आत्मा से निकल पड़ते हैं। परमात्मा को इनके रचने में निकालने में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ये समस्त वेद, समस्त विद्यायें उनसे आपसे आप उत्पन्न हो जाती हैं।

मैत्रेयी ने पूछा—"इन वेदादि विद्याओं का प्रयोजन क्या है ?"

याज्ञवल्क्य जी कहा—"ये सभी शास्त्र आत्म साक्षात्कार का साधन बताते हैं।"

मैत्रेयी ने पूछा—"आत्म साक्षात्कार का साधन तो इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध ही है। यह मैं पहिले ही बता चुका इन्द्रियों की विषय प्रवाहिनी वृत्तियों के निरोध से अन्तःकरण निरुद्ध होता है। निरुद्ध हुए स्वच्छ निर्मल अन्तःकरण में आत्म का दर्शन होता है। इसी उपासना के उपकरण भूत इन्द्रियों के नियमन को जिसे पहिले मैंने संक्षेप में बताया था, उसे ही पुनः विस्तार पूर्वक तुम्हें बताता हूँ। तुम इसे समाहित चित्त से ध्यान पूर्वक सुनना।

देखो, जैसे जितने भी वापी, कूप, तड़ाग, नद, नदी आदि जलाशय हैं, उन सबका अयन–मूल स्थान--समुद्र है। इसी प्रकार जितने भी कठोर–गुदगुदे, रूखे--चिकने, उष्ण--शीतल आदि पदार्थ हैं उन सब स्पर्शों का त्वचा ही एक अयन है, इसी भाँति समस्त सुगन्धित-दुर्गंधित पदार्थों का अयन नासिका है, ऐसे ही समस्त मीठे, नमकीन, कड़वे, कसेले खट्टे तथा चरपरे रसों का अयन एकमात्र जिह्वा द्वारा ही इन रसों का आस्वादन किया जा सकता है। जैसे समस्त सफेद, पीले, हरे, लाल, काले, आदि रूपों का ग्रहण नेत्रों द्वारा ही होता है। इन समस्त रूपों का चक्षु रूप ही अयन है। जैसे समस्त तार, मध्य, मंद्र ध्वन्यात्मक शब्दों को श्रोत्र इन्द्रिय ही ग्रहण करती है। समस्त शब्दों का श्रोत्र अयन है जैसे समस्त संकल्प विकल्पों का एक मात्र स्थान मन है। जैसे समस्त विद्याओं को हृदय ही ग्रहण करता है। इन सबका हृदय ही एकमात्र अयन है। जैसे समस्त कर्मों का हाथ ही अयन है।

अर्थात् जैसे ऊपर नीचे फेंकना, किसी को फैलाना-समेटना, हिलाना-डुलाना आदि कर्म हाथ से ही होते हैं। जैसे समस्त आनन्दों का उपस्थ अयन है। समस्त विसर्गों का पायु अयन है। जैसे समस्त गमनागमन का अयन पैर हैं। उसी प्रकार समस्त वेदों की वाणी ही ग्रहण कर्ता है। इसलिये आत्म साक्षात्कार करने वाले मुमुक्षु साधक को इन सबके अयन का--मूल स्थान का इन्द्रियों का ही निरोध करना चाहिये। इन्द्रियों के निरोध से समस्त कर्मों का समस्त भीतर को इन्द्रियों--अन्तःकरण- का भी निरोध हो जाता है। तभी आत्म साक्षात्कार होता है।

मैत्रेयी ने पूछा—"क्या यह जगत् सदा ऐसा ही बना रहता है ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"नहीं, यह जगत् तो उत्पन्न होता है फिर विनाश को प्राप्त होता है।"

मैत्रेयी ने पूछा—"तब जो सर्व भूतात्मक है, जिसकी सृष्टि करके जिसमें जो आत्मा प्रवेश कर गया है। उन-उन रूपों वाला हो गया है। उसका क्या होता है ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"देखो, मैत्रेयि ! कभी सिन्धु देश में समुद्र था। उस समुद्र के जल का जो नमकीनपना था। वह जमते-जमते सिन्धु देश में नमक का एक पहाड़ हो गया है। उस पहाड़ को तोड़कर जो खंड लोग लाते हैं उसे सैंधव लवण--सेंधा नौंन--कहते हैं। वह नमक कोई अन्य पदार्थ नहीं। जमा हुआ समुद्र का जल ही है, किन्तु जम जाने से भ्रमवश लोग उसे जल से पृथक् मानते हैं। उस सेंधे नमक का एक डला ले लो। उसे जल में डाल दो। कुछ काल के पश्चात् कहो उस डले को जल से निकाल लाओ। तो उस जल से उस नमक के डले को-ज्यों

का-त्यों जैसा वह पहिले था, वैसा ही निकाल लाने में कोई भी विद्वान समर्थ नहीं हो सकता। वह जहाँ-जहाँ से जल उठाकर चखेगा वहीं-वहीं उसे नमकीन जल ही प्रतीत होगा। वह नमक का ढेला जल में ऐसा घुल मिल गया है, कि अब उसका पृथक् अस्तित्व रहा ही नहीं। इसी प्रकार हे मैत्रेयि! यह परमात्मा महद्भूत अनन्त अपार और विज्ञान घन ही है। वह इन भूतों के साथ प्रकट होता है। जब प्रलयकाल में भूतों का विनाश होता है, तो उन्हीं के साथ उसका भी विनाश हो जाता है। देह तथा इन्द्रियों के भाव से विमुक्त हो जाने पर, फिर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती। न कोई नाम रहता है न रूप। समझ लिया न मैत्रेयी! यह मैंने सेंधा नमक का दृष्टान्त देकर तुझे समझा दिया ऐसा मैंने कहा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो विचित्र बात कह दी। भूतों के विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है। शरीरपात के अनन्तर इसकी कोई संज्ञा ही नहीं रहती। फिर आत्मा का अजरत्व, अमरत्व, नित्यत्व कहाँ रहा?"

सूतजी ने कहा—"यह शङ्का तो स्वयं मैत्रेयीजी ने ही उठाई है। इसका जो समाधान याज्ञवल्क्य जी करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, देव भूत सब करत पराजय।
आत्म भिन्न यदि लखै सबनिकूँ लखै आत्ममय॥
शब्द, नगाड़ो, शङ्ख तथा वीणा श्रवननि सुनि।
ग्रहन करन असमर्थ रहे यदि कर्ता अरु इनि॥
पकरे वाद्यहिँ वादकहिँ, शब्द ग्रहन होवै तुरत।
त्यों इं करन निरोध तैं, अन्तकरन होवै निरत॥

(२)

गीलो ईंधन आनि धरो फिरि फूँकहु मारो।
धूँआ निकसे स्वतः योंहि जग सकल पसारो॥
वेद, सूत्र, इतिहास उपनिषद् विद्या सगरी।
महद्भूत तैं स्वत. निकसि सब जग में पसरी।
सब इन्द्रिनि विषयहि अयन, जलनिधि जलको अयन ज्यों।
नारायण तैं निस्वसित, वेद शास्त्र इतिहास त्यों॥

(३)

जल में डारो नौन नाम अरु रूपहिँ खोवै।
जल तैं प्रकट्यो नौन नीर में लीनहु होवै।
त्यों अनन्त विज्ञान प्रकट भूतनि तैं होवै।
नाश तिनहिँ के सँग नाम निज रूपहु खोवै॥
देहेन्द्रिय तैं मुक्त है, नहिँ सज्ञा ताकी रही।
आत्मनाश मुनि! होइ कस, शंका मैत्रेयी कही॥

मैत्रेयी की शंका का समाधान

[२२३]

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञा-स्तीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥❀

(बृ० उ० २ अ० ४ ब्रा १३ मं०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य मुनि सुनी प्रिया की शंका बोले ।
प्रिये ! मोह उपदेश करूँ नहिँ धी पट खोले ॥
महद्भूत विज्ञान हेतु पर्याप्त भाविनी ।
द्वैत माहिँ ही अन्य अन्य कूँ भोगत घरनी ॥
जब सब आत्मा ही भयो, तब भोगी को भोग है ।
जो विज्ञाता सकल को, का तैं जानन जोग है ॥

आत्मज्ञान बहुत प्रवचन करने से प्राप्त नहीं होता। धारा प्रवाह बोलना, शब्दों में यमक, अनुप्रास, लगाकर एक से एक

❀ यह सुनकर वह मैत्रेयी कहने लगी—"भगवन् आप ने यह कह कर कि 'देहपात के अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती मुझे मोह में डाल दिया।' इस पर याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा—"अरे मैत्रेयि ! भला क्या मैं मोह कह सकता हूँ ? अरी, यह तो विज्ञान के निमित्त पर्याप्त है।"

अलंकारयुक्त वाक्यों की झड़ी लगा देना, नाना शास्त्रों के वचनों का उद्धरण देकर कुशलता पूर्वक श्लोकों का नाना अर्थ लगा देना ये सब बातें विद्वानों की विद्वता को तो प्रकट कर देती हैं, इन अलंकारयुक्त वचनों से प्रभावित होकर राजे महाराजे धनिक श्रीमान् धन तथा पर्याप्त भोग सामग्रियाँ तो प्रदान कर देते हैं। ये कुशलता पूर्वक लच्छेदार भाषा में कहे गये वचन भोग सामग्री जुटाने में तो कारण हो सकते हैं। इससे भुक्ति मिल सकती है मुक्ति नहीं मिल सकती। ये सब पुष्पित वचन ब्रह्मज्ञान कराने में समर्थ नहीं। आप ही सोचें—"जिस आत्मा के द्वारा संसार के समस्त पदार्थ जाने जा सकते हैं, वह आत्मा भला किसके द्वारा जानी जा सकती है। तुम चाहो, आत्मज्ञान केवल वेदाध्ययन से ही हो जाय, तो यह सम्भव नहीं। वेद तो त्रैगुण्य हैं। हमे तो निस्त्रैगुण्य होना है।"

तुम चाहो, तपस्या द्वारा आत्मज्ञान हो जाय, तो यह तो असम्भव है। तप का फल तो स्वर्ग है, केवल तपस्या से ब्रह्मज्ञान कैसे हो सकेगा। तुम चाहो दान द्वारा ब्रह्म साक्षात् हो जाय, तो दान तो पुण्य कार्य है। पुण्य का फल स्वर्ग है। इसी प्रकार यज्ञ भी पुण्य कार्य है इससे स्वर्ग की प्राप्ति हो सकेगी। ब्रह्म की प्राप्ति नहीं। यदि उसका कोई साधन है, तो वह एकमात्र अनन्य अहैतुकी भक्ति ही है। भक्ति मानव शरीर द्वारा ही सम्भव है। शरीर संयोग से ही ब्रह्मज्ञान हो सकता है। हमें आत्मा के ही द्वारा सबका परिज्ञान होता है। जिसके द्वारा देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकारादि का ज्ञान हो, उसका ज्ञान भला किसके द्वारा संभव है? आत्मज्ञान तो उसी को होगा। जिसे वह स्वतः वरण कर ले। जिसे वह वरण कर लेता है, उसे आत्मज्ञान हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब याज्ञवल्क्यजी ने यह कहा कि, "मरकर–शरीरपात के अनन्तर–कोई संज्ञा ही नहीं रहती यह इन भूतों से प्रकट होकर उन्हीं के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है।" तब मैत्रेयी को शंका हुई कि पहिले तो आत्मा को महद्भूत, अनन्त अपार तथा विज्ञानघन कहा और फिर उसे भूतों के साथ विनाशशील भी कह दिया, यह क्या बात है ? इसीलिये उसने अपने प्राणपति भगवान् याज्ञवल्क्य से कहा— "भगवन् ! आपके इन विपरीत वचनों ने मुझे मोह में डाल दिया है, आप मेरी इस शंका का निराकरण करें।"

इस पर महर्षि ने कहा—"प्रिये ! मैत्रेयि ! अरे, मैं भला कभी ऐसी बात कह सकता हूँ, जिससे तुम्हें मोह हो। मैं तुम्हें मोह का उपदेश नहीं कर रहा हूँ। देखो, देवि ! मैंने जो इस आत्मा को विज्ञानघन बताया अर्थात् इसमें विज्ञान के अतिरिक्त अविद्या, अज्ञान का लेश नहीं। वह वास्तव में सत्य ही है। देखो, संज्ञा किसे कहते हैं–देह को ही भ्रान्तिवश जो आत्मा समझ ले वही संज्ञा है। तब जब देह का नाश होगा तो उस संज्ञा का भी नाश हो जायगा। 'मैं देवदत्त हूँ' तो देवदत्त संज्ञा शरीर की तो नहीं है। शरीर की देवदत्त संज्ञा होती तो मरने पर सभी उसे देवदत्त कहते। किन्तु मरने पर सभी उस देह को मिट्टी या मृतक कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि देह की देवदत्त संज्ञा नहीं है। अब रहा जीवात्मा, यदि जीवात्मा की देवदत्त संज्ञा होती तो सभी जीव देवदत्त कहाते, किन्तु ऐसा संसार में देखा नहीं जाता। फिर देवदत्त संज्ञा किसकी है ? कहना पड़ेगा देह में जो भ्रमवश आत्मभ्रान्ति हो गयी है, उस देहात्म संघात की ही अहंकारवश देवदत्त संज्ञा हो गयी है। जब देह नष्ट हो जाता है तो उसकी देवदत्त संज्ञा भी नष्ट हो जाती है। आत्मा तो नष्ट नहीं

होती। देह के साथ नामधेय नष्ट होता है। ये जितने भी नाम हैं सब विकार वाणी से आरम्भ होने वाले हैं। नाम तो संसारी वस्तु है। देह के नाश होने पर नाम भी नष्ट हो जाता है, किन्तु जो असमारी है, विज्ञानघन है, सम्पूर्ण जगत् का आत्मा है, उसका नाश भूतों के नाश होने पर भी नहीं होता जो अविनाशी है, सबका विज्ञाता है उसके विज्ञान का नाश नहीं होता। इसलिये इस महद्भूत, अनन्त अपार का विज्ञान कराने के ही लिये तुम से कहा गया। इसलिये शरीरपात के अनन्तर उसकी संज्ञा नहीं रहती इस कथन से आत्मा के विनाश की बात नहीं समझना। यह जो तुम्हें भोग्य और भोक्ता दो दिखायी देते हैं, ये द्वैतभाव में ही संभव हैं। जहाँ आत्मा एक है, अद्वय है, केवल है वहाँ भोग्य और भोक्ता का पृथकत्व सम्भव नहीं।"

मैत्रेयी ने पूछा—"सो कैसे ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, जहाँ द्वैत-सा होता है। वहाँ सूँघने वाला पृथक् है और जिस गन्धादि को सूँघता है, वह पृथक् है। इसी भाँति देखने वाला पृथक् जो दीखता है, दृश्य है वह पृथक् है। जहाँ किसी को अभिवादन करता है, वहाँ अभिवादन कर्ता पृथक् और जिसका अभिवादन करता है, वह पृथक्। जहाँ मनन करता है, वहाँ मनन कर्ता पृथक् और जिसका मनन करता है वह पृथक्। जहाँ जानने का प्रश्न है वहाँ जो जानता है, वह पृथक् और जिसे जानता है वह पृथक्। किन्तु जब ज्ञान की अवस्था में—जब सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे ? क्योंकि सूँघने वाला और जो वस्तु सूँघी जाती है दोनों ही तो आत्मरूप हैं। वह फिर किसके द्वारा किसको देखे ? कारण कि देखने वाला और जो वस्तु देखी जाती है दोनों में एक

ही आत्मा है। फिर वह किसके द्वारा किसे सुने ? क्योंकि सुनने वाला और जो सुना जाता है, दोनों ही आत्मा हैं। फिर वह किसके द्वारा किसका अभिवादन करे ? क्योंकि अभिवादन कर्ता और जिसे अभिवादन किया जाता है, दोनों ही तो आत्मरूप हैं। फिर वहाँ किसके द्वारा किसका मनन करें ? क्योंकि जो मनन करने वाला है और जिसका मनन किया जाता है, दोनों एक ही हैं। फिर वह किसके द्वारा किसे जाने ? क्योंकि जानने वाला और जिसे जानता है दोनों आत्मा ही हैं।"

सिद्धान्त यह हुआ कि जिस आत्मा के द्वारा इस सब दृश्य प्रपञ्च को जानता है उसे किसके द्वारा जाने ? आत्मा तो विज्ञाता है, वही तो सबको जनाने वाला है उस विज्ञाता को किसके द्वारा जाना जा सकता है ? अर्थात् किसी के द्वारा भी नहीं। वह तो विज्ञानघन है। सभी को जानने वाला है। समझ गयी मैत्रेयी ?"

मैत्रेयी ने कहा—"हाँ, भगवन् ! आपकी कृपा से ही कुछ समझ गयी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद की कथा कही अब आगे जैसे पृथ्वी आदि में मधु दृष्टि करके मधुविद्या कही जायगी, उस मधुविद्या का वर्णन मैं आप से आगे करूँगा।"

छप्पय

याज्ञवल्क्य मैत्रेयि भयो सम्वाद समापत।
अब मधुविद्या कहैं भूमि मधु कही भूत तत॥
पृथिवी के मधु कहे भूतगन भू तेजोमय।
और अमृतमय पुरुष कह्यो अध्यातम अमृतमय॥
पुरुष अमृतमय तेजमय, आत्मा ही सब कछु बनत।
ताहि ब्रह्म चाहे कहो, सर्व कहो चाहे अमृत॥

मधु-विद्या

[२२४]

इय पृथिवी सर्वेषा भूताना मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्या पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिद ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥*

(बृ० उ० २ म० ५ ब्रा० १ मं०)

छप्पय

जल मधुभूतनि कह्यो भूतमधु जलहिँ महाशय।
जल मे जो है पुरुष तेजमय अरु अमृतमय॥
जो है यह अध्यात्म अमृतमय पुरुष आतमा।
अमृत मल अरु सब वही सब मधु अमृतमा॥
वायु, सूर्य, दिक्, चन्द्रमा, बिजुरी मेघ अकाश कहिँ।
धरम, सत्य, नर, आतमा, सर्व, ब्रह्म अमृत सबहिँ॥

फलों में मधु है, किन्तु वह सब किसी को दीखता नहीं। सब

* सभी भूतो का यह पृथ्वी मधु है तथा समस्तभूत पृथ्वी के मधु है। जो तजोमय अमृतमय पुरुष इस पृथ्वी मे है। तेजोमय अमृतमय पुरुष जो अध्यात्म है, वह यही है जिसे 'यह आत्मा है' ऐसा कहते है। यही मधु अमृत, ब्रह्म और सर्व है।

कोई उस मधु का संग्रह नहीं कर सकते। कोई एक व्यक्ति उसका संग्रह करने में भी समर्थ नहीं। बहुत से मिलकर ही मधु संचय करने में समर्थ होते हैं। मधु सार को कहते हैं। पुष्पों का जो पराग है उसका भी जो मधुर भाग है, उस रस का नाम है मधु। वह पौष्टिक होता है। जिस औषधि के साथ अनुपान रूप में मधु का सेवन किया जाय, तो वह औषधि मधु के संसर्ग से दशगुणी लाभदायक हो जायगी। इसलिये यह अमृतवत है। यह ब्रह्म है, व्यापक है, एक स्थान में रहने वाला नहीं। सर्वरसमय है। जैसे समुद्र में जाकर सब नदियाँ समा जाती हैं, वैसे ही मधु में समस्त पुष्पों के सब रस समा जाते हैं। मधु में ध्यान पूर्वक देखो तो खट्टे, मीठे, चरपरे, कड़वे, कषेले तथा नमकीन सभी रस उसमें रहते हुए भी वह प्रधानतया मधुर ही है। इसीलिये सर्वरसमय, ब्रह्ममय है। वह मधु सबमें व्यापक है। जैसे ब्रह्म सर्वव्यापक है। यह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, मधु ही मधु है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्मसर्व व्यापक है, उसकी सर्वव्यापकता के ज्ञान को ही मधु विद्या कहते हैं। इसका वर्णन अनेक उपनिषदों में अनेक स्थानों में अनेक प्रकार से आया है। कहीं कहा है–जो पृथ्वी में रहता हुआ पृथ्वी के भीतर प्रविष्ट हो जाता है, वहाँ प्रविष्ट होकर प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन करता है। स्वयं पृथ्वी जिसे जानती नहीं, किन्तु पृथ्वी जिसका शरीर है–रहने का स्थान है–वह कौन है? वह कोई दूसरा नहीं वह तो निरुपाधिक अन्तर्यामी अमृतत्वशाली तुम्हारी आत्मा ही है। वह सर्वव्यापक मधु है। पंचभूतों में सबसे अन्तिमभूत पृथ्वी है इसलिये इस मधु विद्या को पृथ्वी से प्रारम्भ करते हैं। जितने भी भूत हैं, प्राणी हैं उन सबका मधु क्या है? पृथ्वी ही है। क्योंकि स्थूलांश

सूक्ष्मांश कुछ न कुछ अंश ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त सभी में पृथ्वी का अंश रहता ही है। अतः पृथ्वी भूतों का मधु है सार है। और समस्त भूत भी इस पृथ्वी के मधु ही हैं। सब भूतों से मिलकर ही तो यह पृथ्वी बनी है। अतः समस्त भूत इसके मधु हैं। पृथ्वी का एक तो आधिभौतिक रूप है जो हमें दीखता है, एक आधिदैविक स्वरूप जिसका उद्धार वाराह रूप भगवान् ने किया था जिसके धेनु, धरणी तथा लोकधारिणी ये नाम प्रसिद्ध हैं। तीसरा इनका एक अध्यात्मरूप भी है, वह तेजोमय, अमृतमय सनातन पुरुष के रूप में है। यह पृथ्वी का अध्यात्म वपु है। उसका नाम आत्मा है। वह पृथ्वी का स्वरूप अमृत है, ब्रह्म है तथा सर्वरूप है। इसी प्रकार सबमें समझ लो।

जैसे जल है यह जल भी समस्त भूतों का मधु है। इस जल के समस्त भूत मधु हैं। इस जल में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है। जिसे रैतस्–वीर्य–कहते हैं यही तेजोमय अमृतमय पुरुष इस नीर का अध्यात्म है वह कौन है ? वह 'यह आत्मा है' इसलिये अमृत, ब्रह्म और सर्व यह है।

इसी प्रकार यह अग्नि सब भूतों का मधु है। समस्त भूत इसके मधु हैं। वाणी इस तेजोमय अमृत पुरुष की अध्यात्म रूप है। यह वह आत्मा है, वह आत्मा अमृत है, ब्रह्म है तथा यह सर्व है। यह वायु भी मधु है। समस्तभूत इसके मधु हैं प्राण इसका अध्यात्म रूप है। यह प्राण रूप तेजोमय अमृतमय पुरुष आत्मा है। यही अमृत, ब्रह्म और सर्व है।

इसी भाँति यह आदित्य भूतों का मधु है। समस्तभूत इसके मधु हैं। इसका चाक्षुस-नेत्र अध्यात्म रूप है। यह चाक्षुस् अध्यात्म पुरुष तेजोमय और अमृतमय है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्व है।

इसी भाँति दिशायें समस्त भूतों का मधु है समस्तभूत इनके मधु हैं। इसका अध्यात्म रूप श्रोत्र सम्बन्धी प्रातिश्रुत्क है। यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यह आत्मा है। अमृत, ब्रह्म सर्व है।

अब सभी का ऐसे ही समझ लो आगे हम सबका अध्यात्म रूप ही बताते जायँगे और सब ज्यों-का-त्यों है। चन्द्रमा का अध्यात्म मन सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है। विद्युत् का अध्यात्म तैजस् तेजोमय अमृतमय पुरुष है। मेघ का अध्यात्म शब्द एवं स्वर सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है। आकाश का अध्यात्म हृदयाकाश रूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है। धर्म का अध्यात्म धर्म सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है। सत्य का अध्यात्म सत्य सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है। मनुष्य जाति में अध्यात्म मानुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है। अब इसी प्रकार आत्मा सब भूतों का मधु है। तथा समस्त भूत इस आत्मा के मधु हैं। यह जो आत्मा में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है यही वह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशायें, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म सत्य तथा मनुष्य जाति को अमृत बताकर फिर आत्मा को अमृत बताया। आत्मा को अमृत बताने के अनन्तर आत्मा का सर्वाधिपत्य और सर्वाश्रयत्व निरूपण करते हुए कहते हैं—

देखो, यह जो आत्मा है, यही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश इन समस्त भूतों का अधिपति है। यह समस्त चर-अचर, स्थावर-जंगम प्राणियों का राजा है। समस्त जीव इसी में पिरोये हुए हैं। इस विषय में दृष्टान्त देते हैं। जैसे रथ का

पहिया है। पहिये में तीन वस्तुएँ हैं, कुछ गोल-गोल काष्ठ जोड़कर एक गोलाकार काष्ठ का वृत्त बनाया जाता है उसका नाम नेमि है। उसके बीच में एक गोल छिद्रयुक्त लकड़ी होती है, उसे पुट्ठी रथ की नाभि या पिंड़िका कहते हैं, उसमें छिद्र करके उसमें से बहुत-सी आड़ी तिरछी लकड़ियाँ लगाकर नेमि में फँसाई जाती हैं, उनको अर या अरा कहते हैं। तो जितने भी अरे हैं, वे सब रथ की नाभि और रथ की नेमि में समर्पित रहते हैं, कसे रहते हैं, बँधे रहते हैं, जड़े रहते हैं। इसी प्रकार इस आत्मा में संसार भर के भूत, इन्द्रादिक जितने देवता हैं वे सब 'भूः' भुवादि जितने लोक हैं, वे सब लोक तथा समस्त प्राण और प्राणी ये सबके सब आत्मा में समर्पित हैं। आत्मा में बँधे हैं आत्मा में जड़े हुए हैं। इसलिये यह जो भी कुछ दिखायी देता है सब आत्मा ही है। जैसे रथ का पहिया कहने से पहिये की नेमि, उसकी बीच में लगी नाभि और नाभि तथा नेमि के बीच में लगे अरे ये तीनों ही पहिये कहलाते हैं। वैसे ही यह जगत, यह जीवात्मा और यह परब्रह्म तीनों ही मिलकर आत्मा है। यही अमृत है, यही सर्व है और यही ब्रह्म है। आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इस प्रकार सभी में व्याप्त यह परब्रह्म सबका मधु है, सबका आश्रय है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने मधुविद्या आप से कही। और जैसे दध्यङ्ङा अथर्वण महर्षि दधीचि ने अश्विनी कुमारों को अश्व के शिर से मधुविद्या का उपदेश दिया था, उस पावन प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आशा है आप सब इस ज्ञानमयी आख्यायिका को समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।"
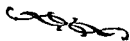
छप्पय

आत्मा सबको अधिप सबहि भूतनिको राजा ।
सब ही जामें जड़े होहिँ सब जातैं काजा ॥
रथ पहिये की नाभि नेमि में जुरे अरे तत ।
त्यों आत्मा में भूत, देव अरु लोक समर्पित ॥
आत्मा सबमें रमि रह्यो, सब ही आत्म स्वरूप है ।
ब्रह्म सर्व अरु अमृत वह, सबको स्वामी भूप है ॥

ब्रह्मविद्या-मधुविद्या की स्तुति

(२२५)

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥*

(बृ० उ० २ प्र० ५ ब्रा० १६ म०)

छप्पय

निज शिर कूँ कटवाइ अश्वशिर धारन कीयो ।
मुनि दधीच उपदेश अश्वशिर तैं ही दीयो ॥
कुमर अश्विनी भये कृतारथ विद्यालहिकैं ।
दध्यंङ् ऋषि भये अमर विद्याकूँ कहिकैं ॥
मधुविद्या या जगत में, त्यागी बिनु को कहेगो ।
होइ जगत तैं पार वह, जो या विद्या लहेगो ॥

---

* इस मधु विद्या को दध्यङ्ङा थर्वण ऋषि ने दोनो भाई अश्विनी कुमारों से कहा था । इस ब्रह्म विद्या को देखते हुए ऋषि ने कहा था— मेघ जिम प्रकार वर्षा करता है, इसी प्रकार वर रूप धारी हे अश्विनी कुमारो । तुम दोनो के लाभ के लिये मैं शिरच्छेदन रूप इस उग्र कर्म को प्रकट करता हूँ ।" जिम मधु विद्या का दधीचि मुनि ने तुम्हारे प्रति अश्व के सिर से उपदेश किया है ।

आज कल तो सब कोई सब किसी को कथित ब्रह्म विद्या का उपदेश करने लगे हैं। कोई जिज्ञासा भी न करे, तो भी उपदेशक-मानी ये व्यवसायी वक्ता घर-घर ब्रह्मविद्या सिखाते फिरते हैं। घोर संसारी कार्यों में संलग्न व्यक्ति भी ब्रह्म से नीचे की बातें नहीं करते। यह युग का प्रभाव है किसी व्यक्ति का दोष नहीं। प्राचीन काल में ऐसी बात नहीं थी। कोई विरला ही ब्रह्मवेत्ता होता था, वह बहुत ठोक बजाकर सब प्रकार से पात्र की परीक्षा करके उत्तम श्रेष्ठ सुपात्र को ही ब्रह्म विद्या देते थे।

जैसे हम मनुष्यों में कोई बद्ध जीव होते हैं, कोई मुक्त तथा नित्य और कुछ मुमुक्षु भी होते हैं। ऐसे ही देवलोक में बहुत से इन्द्र केवल सौ अश्वमेध करके ही इन्द्र बन जाते हैं, वे पुनः चींटी आदि योनियों में आ जाते हैं। बहुत से इन्द्र होने पर भी ब्रह्मज्ञानी होते हैं। प्रतीत होता है पहिले यह ब्रह्मविद्या भी इन्द्रादि देवों के ही अधीन होती थी। वे बहुत परीक्षा करके, कुल, गोत्र, व्यवसाय, विद्या, तप आदि देखकर तब किसी को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते थे और उससे भी कह देते थे—कि देखो यह बहुत ही गोपनीय विद्या है, इसका उपदेश सब किसी को मत देना। सब प्रकार की परीक्षा करके, जिसे उत्तम-से-उत्तम श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ सुपात्र समझो उसी को इस विद्या को देना। अथर्ववेद के आचार्य अथर्वा मुनिका विवाह महामुनि कर्दम की नौ कन्याओं में से शान्ति नाम्नी कन्या के साथ हुआ था। उसी शान्तिदेवी के गर्भ से अथर्वामुनि के औरस पुत्र ये दधीचि मुनि थे। ये दध्यङ्ङा अथर्वण के नाम से भी प्रसिद्ध हैं ये इस मधुविद्या ब्रह्मविद्या के ज्ञाता थे। प्रतीत होता है, इन्होंने देवेन्द्र द्वारा ही यह विद्या प्राप्त की होगी।

अश्विनी कुमार जो सूर्य के पुत्र थे। सूर्य की पत्नी ने सूर्य के

तेज को सहन न करने के कारण अश्वी–घोडी–का रूप रख लिया था। ज्ञात होने पर सूर्यदेव ने भी अश्व का रूप रखकर उससे सगम किया। उन्हीं से ये दोनों कुमार साथ ही साथ पैदा हुए। ये बडे ही सुन्दर थे। दोनो साथ ही उठते-बैठते, खाते पीते तथा चलते फिरते हैं। दोनों का नाम भी अश्विनी कुमार ही है। वे वेद विद्या में निष्णात है। देवताओं की चिकित्सा करते हैं। विद्याओं में वैद्य विद्या को अधनाधमा विद्या बताया है। ये दोनों भाई ब्रह्मविद्या भी प्राप्त करना चाहते थे। इन्द्र से भी इन्होंने प्रार्थना की होगी, किन्तु वैद्य विद्या अधमा है। ये वैद्यक करते हैं चीडफाड का काम करते हैं, इसलिये इन्द्र ने इन्हे अनधिकारी समझकर मना कर दी होगी। अब ये इस खोज में थे, कि कोई ब्रह्मवेत्ता मिल जाय, तो उससे हम ब्रह्मविद्या प्राप्त करें।

इन्हें पता चला अथर्वमुनि के पुत्र दधीचि मुनि ब्रह्मवेत्ता हैं, और अत्यन्त उदार भी हैं। अतः ये दोनों भाई उनकी शरण में गये और उनसे प्रार्थना की—"भगवन्! हमें ब्रह्म विद्या का उपदेश दें।"

ऋषि तो परम उदार थे, उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, इस समय तो मैं एक विशेप कार्य मे लगा हूँ, फिर आना मैं तुम लोगों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करूँगा।"

ऋषि की स्वीकृति पाकर अश्वनी कुमारों को परम हर्ष हुआ, वे प्रसन्नता पूर्वक ऋषि के चरणों मे प्रणाम करके लौट गये। यह बात इन्द्र को मालूम पड गयी, कि दधीचि मुनि ने अश्वनीकुमारों को ब्रह्मविद्या देने की प्रतिज्ञा कर ली है। अतः वे कुपित होकर हाथ में वज्र लेकर दधीचि मुनि के आश्रम पर पहुँचे। मुनि ने देवेन्द्र का पाद्य अर्घ्यादि से सत्कार किया। इन्द्र ने पूछा—

"मुनिवर ! हमने सुना है, तुमने अश्विनी कुमारों से ब्रह्मविद्या प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर ली है।"

मुनि ने कहा—"हाँ प्रतिज्ञा तो कर ली है।"

इन्द्र ने कहा—"सावधान, उन्हें कभी भी ब्रह्मविद्या का उपदेश न करना।"

मुनि ने पूछा—"क्या कारण है ?"

इन्द्र ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"तुम जानते नहीं हो, वे वैद्य हैं, विद्या अधमाधमा है। फिर वे देवता होकर मनुष्यों का रूप रखकर मनुष्यों की भी चिकित्सा करते हैं। अंगों के चीड़ फाड़ का भी काम करते हैं। दक्ष के कटे हुए धड़ पर इन्होंने ही बकरे का सिर लगाकर उसे जीवित कर दिया था। भग के नेत्रों को इन्होंने लगा दिया। च्यवन मुनि को वृद्ध से युवा बना दिया। देवताओं के टूटे फूटे हाथ पैर इन्होंने जोड़ दिये थे।"

ऋषि ने कहा—"ये कोई बुरे काम थोड़े ही हैं। परोपकार का कार्य किया अच्छा ही किया।"

इन्द्र ने कहा—"कैसा भी अच्छा हो, वैद्यक से आजीविका चलाना निन्दित वृत्ति है। वे ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं हैं। उनको कभी भी ब्रह्मविद्या का उपदेश न करना। यदि तुमने मेरी बात नहीं मानी, तो मैं तुम्हारा सिर धड़ से पृथक् कर दूँगा।"

इन्द्र की इस बात का दधीचि मुनि ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इन्द्र ऐसा कह कर चले गये। कालान्तर में ये दोनों भाई अश्विनी कुमार पुनः मुनि की सेवा में ब्रह्मविद्या सीखने समुपस्थित हुए और प्रार्थना की—"भगवन् ! अब आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिये।"

मुनि ने कहा—"भाई, प्रतिज्ञा तो मैंने तुम से अवश्य की है, किन्तु इन्द्र आये थे, वे कह गये हैं—"कि तुमने यदि अश्विनी

कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया तो मैं तुम्हारा सिर काट लूँगा।"

अश्विनी कुमारों ने कहा—"भगवन ! आपकी प्रतिज्ञा व्यर्थ नहीं होनी चाहिये।"

ऋषि ने कहा—"सोचता तो मैं भी यही हूँ, प्रतिज्ञा पूरी करना तो मेरा धर्म है। किन्तु यदि बीच में ही इन्द्र ने आकर शिर काट दिया तो क्या होगा ?"

अश्विनी कुमारों ने कहा—"भगवन् ! हम वैद्य हैं। इसका उपाय तो हम कर लेंगे।"

मुनि ने पूछा—"क्या उपाय करोगे ?"

अश्विनी कुमारों ने कहा- "हम आपका सिर पहिले ही काट कर रख लेंगे। एक घोड़े का सिर काटकर आपके धड़ पर लगा देंगे। आपके सिर को घोड़े के सिर पर लगा देंगे। आप घोड़े के ही सिर से हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश दें। जब इन्द्र आपके शिर को काट जायँगे। तो हम आपके सिर को घोड़े से काटकर आपके धड़ पर लगा देंगे। उस घोड़े के मुख को पुनः उसी के सिर पर चिपका देंगे।"

मुनि को अश्विनीकुमारों की युक्ति अच्छी लगी। उन्होंने स्वीकृति दे दी। स्वीकृति पाकर अश्विनीकुमारों ने उनका सिर काटकर घोड़े के धड़ में लगा दिया और घोड़े के सिर को इनके धड़ पर जमा दिया। उसी अश्व के सिर से मुनि ने अश्वनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। इसीलिये ब्रह्मविद्या का दूसरा नाम अश्वशिरा विद्या भी है।"

पीछे से इन्द्र आकर मुनि का शिर काट गये। अश्विनी कुमारों ने उसे घोड़े के धड़ पर लगा दिया। मुनि के सिर को फिर उनके धड़ पर लगा दिया। ऐसी यह ब्रह्मविद्या है। तभी

ब्रह्मज्ञानी महर्षि दधीचि ने देवताओं के माँगने पर अपने जीवित शरीर की हड्डियों को वज्रादि अस्त्र बनाने को प्रसन्नता पूर्वक दे दिया। ब्रह्मज्ञानी के अतिरिक्त ऐसा दुष्कृत कर्म दूसरा कौन कर सकता है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मधुविद्या तो समाप्त हुई। अब मधुविद्या अथवा ब्रह्मविद्या की फल स्तुति कहते हैं—"ब्रह्माजी के पुत्र अथर्व मुनि हुए। उनको ब्रह्माजी ने ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। अथर्व के पुत्र ध्यान परायण दध्यङ्ङ मुनि हुए जो दधीचि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस मधुविद्या को दधीचि मुनि ने अश्विनी कुमारों को दिया। इन्द्र ने जब अश्विनी कुमारों को विद्या देने से मुनि को रोका और धमकी दी—"यदि तुम अश्विनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दोगे तो मैं तुम्हारा सिर काट लूँगा।" इस पर भी मुनि ने अश्विनी कुमारो से कहा—"हे मनुष्यों का-सा रूप धारण करने वाले अश्विनी कुमारों ! मेघ जिस प्रकार सर्वत्र वृष्टि करता है, वह भेद भाव नहीं करता कि यह चांडाल का खेत है, इसमें वर्षा न करूँ, यह अमुक का खेत है इसमें वर्षा करूँ। वह तो सर्वत्र बरसता है। यद्यपि इन्द्र मुझे आपको उपदेश करने के लिये मना कर गये हैं। फिर भी आप कहते हो, सिर कटाकर हमें अश्व के सिर से उपदेश कर दें। मैं तुम दोनों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करूँगा तो तुम्हारा लाभ होगा। अतः तुम दोनों के लाभ के निमित्त इस सिर कटाने रूप उग्र शल्यकर्म को प्रकट किये देता हूँ। अर्थात् अश्व के ही मुख से तुम्हें ब्रह्म-विद्या का उपदेश किये देता हूँ।"

भगवती श्रुति कहती है—"जिस मधुविद्या का उपदेश दध्य-ङ्ङाथर्वण ऋषि ने अश्विनो कुमारों के प्रति अश्व के सिर से

वर्णन किया है, उसी महा दुर्लभ मधुविद्या का मैंने वर्णन किया है।"

अब मधुविद्या की स्तुति करते हुए पुनः एक प्रत्यक्षदर्शी मन्त्र दृष्टा ऋषि के मुख से उसे कहला रहे हैं, जिस मधुविद्या का दधीचि मुनि ने अश्विनी कुमारों को उपदेश दिया था, उसे देखकर मन्त्र दृष्टा ऋषि ने अश्विनी कुमारों से ही कहा था—"हे अश्विनी कुमारो! तुम दोनों बड़े भाग्यशाली हो, जो तुमको दधीचि मुनि ने मधुविद्या का उपदेश दिया। तुम इन्द्र के भय से ऋषि को अभय करते हुए दधीचि मुनि के लिये घोड़े का सिर लाये थे। महामुनि दधीचि ने पूर्व में आप से ब्रह्मविद्या प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। उस प्रतिज्ञा रूपी सत्य का पालन करते हुए तुम्हें सूर्य सम्बन्धी-त्वाष्ट्र शब्दित यज्ञ शिरः सम्बन्धी कर्म-मधुविद्या का उपदेश किया था। हे शत्रुहिंसक-दस्र-अश्विनी कुमारो! यह जो आत्मज्ञान सम्बन्धी मधुविद्या है यद्यपि यह कथ्य है-परम सुगोप्य है सब किसी के लिये इसका उपदेश नहीं दिया जाता है। फिर भी दध्यङ्-आथर्वण ऋषि ने उस परम गोपनीय विद्या का तुम को उपदेश दिया था। अतः तुमसे बढ़कर भाग्यशाली और कौन होगा।"

दूसरे ऋषि ने भी इस विद्या की स्तुति करते हुए अश्विनी कुमारों से कहा था—"देखो, अश्विनी कुमारो! उन परब्रह्म परमात्मा ने दो पैर वाले-मनुष्यादि-शरीरों को बनाया। फिर चार पैर वाले-गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि-पशुओं को बनाया। फिर वह पक्षी होकर-हंस बन के-जीव रूप से-समस्त शरीरों में प्रविष्ट हो गया। क्योंकि उसके प्रवेश किये बिना वे शरीर कुछ कार्य करने में समर्थ ही नहीं हो सकते थे। उसका

नाम पुरुष है। पुरुष नाम क्यों है ? इसलिये कि वह समस्त शरीरों में वर्तमान रहता है। वह परमात्मा शरीर में–पुर में–शयन करता है, इसी निमित्त उसकी पुरुष संज्ञा है। देहों में सोता है, देह ही उसका पुर है। इसलिये वह पुरुष कहलाता है। इस परमात्मा से कोई भी वस्तु बाहर से अनाच्छादित नहीं है। अर्थात् सभी पदार्थ इनसे आवृत हैं, ढके हुए हैं। और कोई संसार में ऐसा भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं हो सकता जिसमें यह घुसा हुआ न बैठा हो अर्थात् समस्त पदार्थों में यह प्रविष्ट है। यह सबके भीतर भी है और सबके बाहर भी है। अर्थात् यह परमात्मा सर्वत्र समान भाव से व्याप्त है। हे अश्विनी कुमारो ! उसी सर्वव्यापक ब्रह्म का तुम्हें उपदेश अथर्व ऋषि के पुत्र दध्यङ्ङ मुनि ने किया है।"

इसी प्रकार अश्विनीकुमारों से ही किसी तीसरे मन्त्रद्रष्टा सर्वज्ञ ऋषि ने कहा था—"हे अश्विनीकुमारो ! जैसे माता पिता के अनुरूप संतान होती है, वैसे ही इस जीवात्मा का रूप परमात्मा के ही प्रतिरूप हो गया। अर्थात् वही परमात्मा जीव रूप से जैसा शरीर था उसी के अनुसार हो गया। चींटी के शरीर में चींटी के अनुसार हाथी के शरीर में हाथी के अनुरूप बन गया। जो भी कुछ व्यवहार के लिये है, वह सब उस परमात्मा का ही रूप है, अर्थात् लोक में प्रकट करने के निमित्त ही उसके ये सब रूप हैं। वह इन्द्र–परमात्मा–बड़ा मायावी है। वह अपनी मायाओं से–इन्द्र जाल के समान–अनेक रूपों में प्रकट होता है। यह शरीर क्या है, मानों एक रथ है। इसमें जुते हुए घोड़े क्या हैं ? मानों ये इन्द्रियाँ ही घोड़े हैं, ये हैं तो दश किन्तु विषय असंख्य हैं उनको हरण करने के कारण असंख्य रूपों से दृष्टिगोचर होते हैं। वह ब्रह्म अपूर्व है अपर है, अनन्त है, अबाह्य

है। यही आत्मा सबको जानने वाला, सबको अनुभव करने वाला ब्रह्म है। यही सबका सार है। यही समस्त तत्वों का परम तत्व है। यही सर्व अनुभूतियों का अनुशासन है। यही समस्त वेदान्त वाक्यों का परम रहस्यमय तात्त्विक उपदेश है। अश्विनीकुमारो ! तुम धन्य हो, जो यह उपदेश तुम्हें अथर्व के पुत्र दध्यङ्ङमुनि से जो दधीचि के नाम से प्रसिद्ध हैं उनसे प्राप्त हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार यह मधुविद्या की स्तुति समाप्त हुई। अब आप से मैं मधुविद्या की सम्प्रदाय परम्परा को सुनाकर इस विषय को समाप्त करूँगा।"

छप्पय

(१)

मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहें-मेघ ज्यों बरसत सब थल।
त्यों ऋषि शिर कटवाइ ज्ञान दीयो अति निरमल॥
अश्व शिरहि तें कही कहाई अश्वशिर वह।
गोपनीय मधु सरिस मुक्ति दायिनि विद्या यह॥
रचिकें जग के जीव सब, पशु, पक्षी सबई पुरुष।
पुरनि–शरीरनि शयन करि, पुरुष कहे जस तन सरस॥

(२)

सब जाने ढकि लये सबनि में प्रविसे प्रभुवर।
व्याप्त सबनि में रहें सकल जग माहिं चराचर॥
रूप रूप प्रतिरूप प्रकट है सब दरसावत।
माया तें बहुरूप धरें रथ सरिस घुमावत॥
ब्रह्म अनन्त तर अनपरहि, वह अबाह्य अनुभव सकल।
अनुशासन वेदान्त सब, है उपदेशहु अति विमल॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में

पंचम मधु ब्राह्मण समाप्त

अथ वꣳशः। पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात् कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥꠹

(बृ० उ० २ अ० ६ ब्रा० १ मन्त्र०)

छप्पय

हरि ने अज सन कही सनक ने कही सनातन।
तिनि सतारु उनि व्यष्टि विप्रचित्तिहु एकर्षिनि॥
प्रध्वंसन उनि कही मृत्यु प्रध्वंस अथर्वनि।
जो अथर्वा दैव कही तिनि आथर्वण मुनि॥
तिनितैं अश्विकुमारनहु, विश्वरूप त्वाष्ट्रहि दई।
तिनि आभूतिहिँ त्वाष्ट्र कूँ, तिनि अयास्य आङ्गिरस लई॥

समस्त विद्यायें वंश परम्परा से गुरु द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं। वंश दो प्रकार के होते हैं। विन्दु वंश और मन्त्रवंश। विन्दुवंश

꠹ अब ब्रह्म विद्या की वंश परम्परा सुनो। पौतिमाष्य ने गौपवन से गोपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक से तथा गौतम से गौतम ने आग्निवेश्य से यह ब्रह्मविद्या प्राप्त की।

वो जो औरस हों वीर्यजात हों। जैसे अमुक के पुत्र वे उनके पुत्र वे उनके भी पुत्र वे। इस प्रकार पैतृक क्रम से जो वंश हो उसे विन्दुवंश कहते हैं। नादवश या मन्त्रवश वह है कि परम्परा से जिनके द्वारा कान में मन्त्र लिया हो। अमुक के शिष्य वे, उनके शिष्य वे। पहिले प्रायः पैदा करने वाला पिता ही मन्त्र भी देता था, अतः पिता से ही वंश परम्परा चलती थी। जैसे भगवान् विष्णु नारायण के पुत्र ब्रह्माजी, ब्रह्माजी के पुत्र वसिष्ठजी, वसिष्ठजी के पुत्र शक्तिजी, शक्तिजी के पुत्र पराशरजी, पराशरजी के पुत्र व्यासजी और व्यासजी के पुत्र शुकदेवजी। पहिले महर्षिगण प्रायः सद्गृहस्थ ही होते थे, कुछ ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी होते थे। वे अपने-अपने आश्रम बनाकर सम्पूर्ण जीवन तपस्या में ही विताते थे। उनका समस्त जीवन तपोमय ही होता था। उनको गृहत्याग कर काषाय पहिनकर कमण्डलु धारण करके घर-घर भिक्षा नहीं माँगनी पड़ती थी। वे उसी एक आश्रम में जीवन पर्यन्त रहकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेते थे। वैसे शास्त्रों में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमों का विधान है, किन्तु यह कर्मसंगी–कर्मासक्त–साधारण साधकों के निमित्त है। उत्तम साधक किसी भी आश्रम में रहे वहीं वह ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर सकता है। भक्तिमार्ग में भी संन्यास आवश्यक नहीं। जिस किसी आश्रम में भी रहकर भक्त भगवान् को प्राप्त कर सकता है। कुछ लोगों का आग्रह है, ज्ञान के बिना मुक्ति होती नहीं और ज्ञान विना संन्यासी बने प्राप्त नहीं होता, अतः मुक्ति के लिये संन्यासाश्रम ग्रहण करना अनिवार्य है। इसलिये संन्यास लेना ही चाहिये। सन्यास कोई बाजार में बिकता तो है नहीं जिसे लेना ही चाहिये। संन्यास का अर्थ है त्याग। और त्याग का सम्बन्ध वस्तुओं से न होकर मन से है।

वेप से नहीं अग्निहोत्र परित्याग से नहीं। कापाय वेप और कमंडलु से नहीं। इस बात को स्वयं साक्षात् भगवान् ने गीताजी में कहा है—जो कर्मों को छोड़ दे, अग्निहोत्र करना छोड़कर केवल लिंग धारण करने वाला संन्यासी नहीं होता जो कर्मों के फलों का परित्याग करके, निरन्तर कर्तव्य कर्मों का पालन करता रहता है। वही वास्तव में संन्यासी है और वही योगी है। ऐसे मन से किये संन्यास-त्याग-के विना ज्ञान नहीं होता। लिङ्गधारण करना-ब्रह्मज्ञान में कारण नहीं।

आगे ब्रह्मज्ञान की परम्परा में जिन महर्पियों की परम्परा गिनावेंगे, उनमें प्रायः सभी सद्गृहस्थ ही ऋषि हैं। अद्वैतवादी संन्यासी जो अपनी वंश परम्परा का नित्य पाठ करते हैं। उनमें श्री लक्ष्मी नारायण, ब्रह्माजी, वसिष्ठजी, शक्तिजी, पराशरजी, व्यासजी और श्रीशुकदेवजी पर्यन्त सबके सब सद्गृहस्थ ही हैं। शुकदेवजी के शिष्य गौड़पादाचार्य, उनके शिष्य गोविन्द पादाचार्य और उनके शिष्य श्रीशंकर पादाचार्य ये ही तीन संन्यासी हैं। कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि ब्रह्मविद्या किसी आश्रम के अधीन नहीं। वह सभी आश्रमों में रहकर प्राप्त की जा सकती है। अब आगे हम ब्रह्मविद्या की परम्परा बताते हैं। आप देखेंगे ये सबके सब महर्पि प्रायः सद्गृहस्थ ही थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! १—सर्वप्रथम परब्रह्म परमपिता परमात्मा ने अपने नाभि कमल से परमेष्ठी पितामह चतुर्मुख ब्रह्माजी को उत्पन्न किया और उनके लिये समस्त वेदों का उपदेश भी किया। अतः भगवान् विष्णु तो किसी से पैदा ही नहीं होते। वे तो अज, नित्य, शाश्वत, अजन्मा अविनाशी सदा रहने वाले शाश्वत ही हैं। उनसे ब्रह्माजी की उत्पत्ति होती है।

अतः ब्रह्माजी उनके आदि पुत्र भी हैं और वेदों का उपदेश करने के कारण आदि शिष्य भी हैं। अतः इस मधुविद्या अथवा ब्रह्मविद्या के सर्वप्रथम आदि आचार्य भगवान् परब्रह्म परमात्मा नारायण ही हैं। तो नारायण परमात्मा ने सर्वप्रथम उपदेश ब्रह्माजी को दिया।

२—ब्रह्माजी ही इस सम्पूर्ण सृष्टि के कर्ता हैं। संस्कृत भाषा के कोशों में ब्रह्माजी के बहुत से नाम हैं। जिनमें आत्मभू, सुरज्येष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, हिरण्यगर्भ, लोकेश, स्वयम्भू, चतुरानन, धाता, अजयोनि, विरंचि, कमलासन, स्रष्टा, प्रजापति, वेधा, विधाता, विधि पद्मयोनि, वेदगर्भ, लोकनाथ, रजोमूर्ति, हंसवाहन आदि नाम अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त भी उनके बहुत नाम आते हैं। ये ज्ञान के अवतार हैं। चारों वेदों का ज्ञान सर्वप्रथम इन्हें ही हुआ था। इनकी वाणी कभी भी मृषा नहीं होती समस्त ज्ञान के ये ही भण्डार हैं। भगवान् नारायण के पुत्र तथा शिष्य हैं। ब्रह्मविद्या या मधु विद्या के भगवान् नारायण के पश्चात् ये दूसरे आचार्य हैं।

३—इन परमेष्ठी पितामह ने सर्वप्रथम मन से सनक, सनन्दन, सनातन और सनत् कुमार इन चारों ऋषियों को उत्पन्न किया। अतः ब्रह्माजी के सबसे ज्येष्ठ ये चार ही पुत्र हैं। इनमें सनक ऋषि सबसे बड़े हैं अतः ब्रह्माजी ने ज्येष्ठ-श्रेष्ठ होने के नाते ब्रह्मविद्या का उपदेश अपने ज्येष्ठ पुत्र सनक को किया, अतः ये सनक ब्रह्माजी के शिष्य तथा पुत्र तीसरे आचार्य हुए।

४—अब सदा ५ वर्ष के ही बने रहने वाले, सदा "हरिः शरणम्" इस पंचाक्षर का जप करने वाले, जय-विजय को वैकुण्ठ में तीन जन्मों तक असुर बनने का शाप देने वाले ये

कुमार सबके सब ब्रह्मज्ञानी थे। सनकजी ने अपने भाई सनातन को लक्ष्य करके तीनों भाइयों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। अतः सनक के शिष्य सनातन इस विद्या के चौथे आचार्य हुए।

५—एक सनारु नाम के महर्षि थे। इनका विशेष विवरण पुराणों में प्राप्त नहीं होता। ये कोई परमत्यागी महर्षि रहे होंगे सनातनजी से इन्होंने ब्रह्मविद्या का उपदेश ग्रहण किया। अतः ये ब्रह्मविद्या के पाँचवे आचार्य हैं।

६—एक व्यष्टि नाम के महर्षि हुए हैं। इनको ब्रह्मविद्या का उपदेश सनारु महर्षि ने किया। व्यष्टि महर्षि का भी विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता, किन्तु पुण्यश्लोक पुरुषों का नाम कीर्तन करने से भी पाप का नाश होता है, अतः ये महाभाग सनारु के पश्चात् ब्रह्मविद्या के छटवें आचार्य हुए।

७—एक विप्रचित्ति नाम के महायशस्वी हुए। एक विप्रचित्ति तो दनु के चौबीस पुत्रों से सबसे बड़े पुत्र हुए। महाभारत में आया है कि दनु के चौबीस पुत्र हुए उनकी संसार में सर्वत्र ख्याति थी। उनमें सबसे बड़े महान् यशस्वी राजा विप्रचित्ति हुए। यद्यपि ये दानव थे, किन्तु ब्रह्मविद्या के अधिकारी तो सभी श्रद्धालु हो सकते हैं। असुरों में वृत्रासुर, प्रह्लाद, बलि ये सबके सब ब्रह्मज्ञानी थे। अतः ये विप्रचित्ति दानव हों या कोई महर्षि हों ये व्यष्टि नामक महर्षि के शिष्य सातवें ब्रह्मविद्या के आचार्य हुए।

८—एक एकर्षि नाम के ऋषि हुए। वसुदेवजी ने जो कुरुक्षेत्र में यज्ञ किया था, उसमें जो बहुत से ऋषि पधारे थे उनमें एकत ऋषि का भीनाम है। सम्भव है ये वे ही महर्षि हों, इन्होंने विप्रचित्ति आचार्य से ब्रह्मविद्या सीखी थी अतः ब्रह्मविद्या के ये आठवें आचार्य हुए।

९—कोई प्रध्वंसन नाम के आचार्य हुए हैं, इन्होंने एकर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये नववें ब्रह्मविद्या के आचार्य

१०—कोई मृत्यु प्राध्वंसन नाम के आचार्य हुए हैं। इन्होंने इन आचार्य से ब्रह्मविद्या ग्रहण की अतः ये इस विद्या के आचार्य हुए।

११—कोई अथर्वा दैव हुए। ये अथर्वा ब्रह्माजी के पुत्र थे। ने मृत्यु प्राध्वंसन नाम के महर्षि से मधुविद्या सीखी अतः विद्या के ये ग्यारहवें आचार्य हुए।

१२—इन अथर्वा दैव के ही पुत्र दध्यङ्ङाथर्वण-दधीचि हुए। इन्होंने अपने पिताजी से तथा इन्द्र से भी ब्रह्मविद्या की। दधीचि मुनि तो लोक प्रसिद्ध हैं, इनकी पत्नी का गभस्थिनी था। पिप्पलाद मुनि इन्हीं के पुत्र थे। इन्होंने आओं के माँगने पर अपने जीवित शरीर की हड्डियाँ उन्हें न कर दीं थी। उन्होंने ही घोड़े के सिर से अश्विनी कुमारों ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। तभी से ब्रह्मविद्या का एक नाम शिरा प्रसिद्ध हुआ। ये इस ब्रह्मविद्या के बारहवें आचार्य ।

१३—दधीचिमुनि जो दध्यङ्ङाथर्वण के नाम से विख्यात थे से अश्विनीकुमारों ने ब्रह्मविद्या सीखी। जिसका पीछे वर्णन हो चुका है। ये इस विद्या के तेरहवें आचार्य हुए।

१४—महर्षि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप त्वाष्ट्र हुए। इन्द्र के पमान से असंतुष्ट होकर जब देवगुरु बृहस्पति जी कहीं चले ये, तब देवताओं ने इन्हीं विश्वरूप को अपना पुरोहित बनाया । इनकी माता असुर कुल की थीं, अतः इन्होंने मातृकुल के ाते भीतर-ही-भीतर असुरों का पक्षपात किया। इससे इन्द्र

ने ध्यान में बैठे हुए इनका शिर काट दिया था। जिससे इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी और ये मारे-मारे फिरते रहे। ये विश्वरूप त्वाष्ट्र अश्विनी कुमारों के शिष्य ब्रह्मविद्या के चौदहवें आचार्य हुए।

१५—इन विश्वरूप त्वाष्ट्र के कोई छोटे भाई आभूतित्वाष्ट्र रहे होंगे। उन्होंने इन विश्वरूप त्वाष्ट्र से ब्रह्मविद्या की दीक्षा ली। अतः ये आभूति त्वाष्ट्र इस विद्या के पन्द्रहवें आचार्य हुए।

१६—अयास्य आङ्गिरस अङ्गिरा गोत्र के कोई ऋषि हैं उन्होंने आभूतित्वाष्ट्र से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अङ्गिरा महर्षि के एक पुत्र घोर हुए उनके पुत्र कण्व हुए संभव है ये ही कण्व अयास्य के नाम से प्रसिद्ध हों अतः ये इस विद्या के सोलहवें आचार्य हुए।

१७—स्वयम्भू ब्रह्माजी के मुख से अङ्गिरा महर्षि की उत्पत्ति हुई। अङ्गिरा के पुत्र घोर हुए और घोर के पुत्र कण्व हुए। शकुंतला के प्रतिपालक पिता कण्व दूसरे थे वे यजुर्वेदीय थे। ये कण्व तो ऋग्वेदीय हैं। ऋगवेद में इनकी ऋचायें हैं। ये गोत्र प्रवर्तक ऋषि हैं। इन्हीं के पुत्र सौभरि हुए जो वृन्दावन के समीप सुनरख में रहते थे। जिन्होंने मांधाता की पचास कन्याओं से विवाह किया काली अहि को शाप दिया था। अयास्य आङ्गिरस से इन पन्था सौभर ने ब्रह्मविद्या प्राप्त की ये अङ्गिरा मुनि के प्रपौत्र थे। अतः ये भी आङ्गिरस ही थे। ऋग्वेद में इनकी बहुत-सी ऋचायें हैं। ऋग्वेदीय होने के कारण ये बह्वृच भी कहलाते हैं। अतः ये इस विद्या के सत्रहवें आचार्य हुए।

१८—पन्था सौभर के पुत्र अथवा शिष्य कोई वत्सनपात् बाभ्रव नाम के महर्षि हुए। पन्था सौभर ने इन्हें ब्रह्मविद्या का

उपदेश दिया अतः ये वत्सनपात् वाभ्रव ब्रह्मविद्या के इस परपरा में अठारहवें आचार्य हुए।

१९—विदर्भ देश के कोई कौण्डिन्य महर्षि हुए हैं। विदर्भ देशीय होने के कारण ये विदर्भी कौण्डिन्य कहलाये। एक कौण्डिय मुनि का वृत्तान्त अनन्त चतुर्दशी व्रत माहात्म्य कथा में आता है। वे विवाह करके आ रहे थे, मार्ग में बहुत से स्त्री पुरुष अनन्त व्रत करके चौदह ग्रन्थियों वाले अनन्त डोरे को बाहु में बाँध रहे थे। सम्भव है ये वे ही कौण्डिन्य हों। पन्था साँभर के विदर्भी कौण्डिन्य इस विद्या के उन्नीसवें आचार्य हुए।

२०—गालव महर्षि जो जगत् प्रसिद्ध हैं। इनकी कथा स्कन्द पुराण में आती है, इनकी कान्तिमती कन्या थी जिसकी अवज्ञा करने पर इन्होंने विद्याधराधिपित विज्ञप्ति कौतुक के दोनों पुत्रों सुदर्शन और सुकर्ण को मनुष्य योनि मे जाने का शाप दिया था। बड़े सुदर्शन को वेताल होने का भी शाप दिया था। जिसकी मुक्ति के कारण रामेश्वर में चक्रतीर्थ के समीप वैताल तीर्थ हुआ। ये गालव ऋषि परम ब्रह्मज्ञानी हुए। आगामी आठवें मन्वन्तर में ये गालव महर्षि दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य ऋष्यशृङ्ग और भगवान् द्वैपायन व्यास के साथ सप्तर्षि बनेंगे। इन्होंने विदर्भी कौण्डिन्य मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की थी। अतः ये इस सम्प्रदाय के बीसवें आचार्य हुए।

२१—एक कुमार हारीत नामके ऋषि हुए हैं। इन्होंने गालव महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की इसलिये ये इक्कीसवें आचार्य हुए इनकी हारीतिकी संहिता प्रसिद्ध हैं।

२२—इन कुमार हारीत के शिष्य कौशोर्य काप्य हुए। इन्होंने कुमार हारीत से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये बाइसवें आचार्य हुए।

२३—शाण्डिल्य नाम के ऋषि गोत्र प्रवर्तक हैं। ये शांडिल ऋषि के पुत्र थे। शाण्डिल्य मुनि के भक्ति सूत्र संसार में प्रसिद्ध हैं। श्री स्वप्नेश्वरसूरि ने शाण्डिल्य शत सूत्र पर भाष्य किया है। इन शाण्डिल्य मुनि ने कैशोर्य काप्य मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः महर्षि शाण्डिल्य इस विद्या के तेईसवें आचार्य हैं।

२४—एक वत्स नाम के महर्षि गोत्र प्रवर्तक हुए हैं। उनके पुत्र वात्स्य हुए। इन्हीं वात्स्य सावर्णि गोत्रों में ऊर्व्य, च्यवन, भार्गव, जमदग्नि प्रवर हुए हैं। इन वात्स्य मुनि ने शाण्डिल्य महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये इस संप्रदाय के चौबीसवें आचार्य हुए।

२५—गोतम तो ब्रह्माजी के पुत्र ही हैं, उनके वंशज गौतम हुए गोतम के पुत्र शतानन्द जी हैं। अतः उनका नाम भी गौतम आता है। और भी कई गौतम हैं। जो भी गौतम हों इन्होंने वात्स्य मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये इस विद्या के पचीसवें आचार्य हैं।

२६—कोई माण्टि नामक मुनि हुए हैं इन्होंने गौतम से ब्रह्म-विद्या की प्राप्त की अतः ये छब्बीसवें आचार्य हुए।

२७—अत्रि महर्षि ब्रह्माजी के पुत्र है। इनके चन्द्रमा, दुर्वासा और दत्त ये तीन पुत्र हुए। वैसे तो ये तीनों ही आत्रेय हैं। अत्रि गोत्रोत्पन्न सभी आत्रेय हैं। किन्तु दत्त मुनि के साथ विशेष कर आत्रेय लगाया जाता है। इसीलिये वे दत्तात्रेय कहलाते हैं। इन आत्रेय महर्षि ने माण्टि मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये इस ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के सत्ताईसवें आचार्य हुए।

२८—प्रयाग में निवास करने वाले भरद्वाज मुनि गोत्र

प्रवर्तक हुए हैं। आयुर्वेद के भी ये प्रवर्तक हैं। इन्होंने इन्द्र से आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन करके ससार में उसका प्रचार किया उन्हीं के वंश में दोणाचार्य हुए। ये भी भारद्वाज कहलाये। इन्होंने आत्रेय महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये अट्ठाईसवें आचार्य हैं ब्रह्मविद्या के।

२९—आसुरी नाम के चिरजीवी महर्षि साख्याचार्य हैं। राजा चित्रकेतु ने देवर्षि नारदजी और आंगिरा से इतने भगवत् प्रिय ब्रह्मवेत्ताओं के नाम गिनाये हैं उनमें सनत्कुमार, नारद, ऋभु, अङ्गिरा, देवल, असित, अपान्तरतम, व्यास. मार्कण्डेय, गौतम, वसिष्ठ, परशुराम, कपिल, शुकदेव, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातूकर्ण, आरुणि, रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, पतञ्जलि, वेदशिरा, बोध्य मुनि, पञ्चशिरा, हिरण्यनाभ, कौसल्य, श्रुतदेव, ऋतध्वज, और आसुरी ये मुख्य हैं। ये आसुरी मुनि ब्रह्मवेत्ता थे। इन्होंने ब्रह्मविद्या की दीक्षा भारद्वाज मुनि से ली अतः ये आसुरी महर्षि ब्रह्मविद्या के उन्तीसवें आचार्य हैं।

३०—कोई औपजन्धनि नाम के ऋषि हुए हैं इन्होंने आचार्य आसुरी से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये इस विद्या के तीसवें आचार्य एहु।

३१—त्रैवणि ऋषि औपजन्धनि के शिष्य इकतीसवें आचार्य हुए।

३२—असुरायण आचार्य ने त्रैवणि मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये इस विषय के बत्तीसवें आचार्य हुए।

३३—जातूकर्ण्य महर्षि भी चिरजीवी ब्रह्मवेत्ताओं में से हैं महाराज चित्रकेतु ने इनका भी नाम गिनाया है। इन महर्षि जातूकर्ण ने असुरायण महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये इस ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के तेतीसवें आचार्य हुए।

३४—ब्रह्माजी के पुत्र वसिष्ठजी हुए, वसिष्ठजी के शक्ति शक्तिपुत्र, पराशर और पराशर जी के पुत्र व्यासजी हुए। इसलिये पाराशर्य सम्बोधन स्थान-स्थान पर भगवान् द्वैपायन व्यास के लिये ही आया है। वसिष्ठजी और पराशर जी दोनों ही गोत्र प्रवर्तक ऋषि हैं। अतः पराशर गोत्रीय और भी ऋषि हो सकते हैं। इन पाराशर्य ने जातूकर्ण्य महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये चौंतीसवें आचार्य हैं।

३५—इस पराशर गोत्र में कोई पाराशर्यायण ऋषि हुए हैं, इन्होंने पाराशर्य महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की, अतः ये पाराशर्यायण ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के पैंतीसवें आचार्य हुए।

३६—कुशिक वंश में कोई घृतकौशिक मुनि हुए हैं उन्होंने पाराशर्यायण से ब्रह्मविद्या सीखी अतः ये घृतकौशिक छत्तीसवें आचार्य हुए।

३७—एक कुशिक गोत्रीय ही कोई कौशिकायनि नाम के आचार्य हुए हैं, इन्होंने घृतकौशिक मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये सैंतीसवें आचार्य हुए।

३८—कोई वैजवापायन मुनि हुए हैं, उन्होंने कौशिकायनि नामक महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये अड़तीसवें आचार्य हुए।

३९—पराशर गोत्र में पाराशर्य नाम के कोई दूसरे ऋषि हुए हैं उन पाराशर्य ने वैजवापायन महर्षि से ब्रह्मविद्या ग्रहण की अतः ये उन्तालीसवें आचार्य हुए।

४०—भरद्वाज गोत्रीय ये कोई दूसरे भारद्वाज मुनि हैं, इन्होंने पाराशर्य से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये चालीसवें आचार्य हुए।

४१—गौतम गोत्रीय कोई गौतम महर्षि दूसरे हैं इन्होंने भारद्वाज से ब्रह्मविद्या सीखी अतः ये इकतालीसवें आचार्य हैं।

४२—भरद्वाज गोत्रीय किन्हीं भारद्वाज मुनि ने अपने ही गोत्रीय दूसरे भारद्वाज से तथा गौतमजी से भी दो आचार्यों से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये ब्यालीसवें आचार्य हैं।

४३—पराशर गोत्रीय किन्हीं पाराशर्य मुनि ने भारद्वाज मुनि से ब्रह्मविद्या सीखी अतः ये इस सम्प्रदाय के तैतालीसवें आचार्य हुए।

४४—कोई सैतव और प्राचीन योग्य दो मुनि थे उन दोनों ने पाराशर्य महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये दोनों चौवालीसवें आचार्य हुए।

४५—सैतव और प्राचीन योग्य इन दोनों आचार्यों ने गौतम नाम के किन्हीं गोतम गोत्रीय ऋषि को ब्रह्मविद्या सिखायी अतः ये गौतम पैंतालीसवें आचार्य हुए।

४६—कोई अनभिम्लात नामक ऋषि हुए हैं उन्होंने गौतम जी से यह विद्या सीखी अतः वे इस सम्प्रदाय के छियालीसवें आचार्य हुए।

४७—अनभिम्लात और शाण्डिल्य दोनों महर्षियों ने आग्निवेश्य नामक वैद्यकविद्या के आचार्य नामक मुनि को ब्रह्मविद्या सिखायी। अतः ये आग्निवेश्य ऋषि सैंतालीसवें आचार्य हुए।

४८—आग्निवेश्य के शिष्य कोई गोतम गोत्रीय गौतम ऋषि हुए ये इस विद्या के अड़तालीसवें आचार्य हुए।

४९—शाण्डिल्य नाम के कोई आचार्य हुए हैं उन्होंने कुशिकगोत्रीय किन्हीं कौशिक से तत्पश्चात् गौतमजी विद्या प्राप्त की। अतः ये गौतम शिष्य शाण्डिल्य आचार्य हुए।

५०—इन शाण्लिय मुनि के शिष्य कोई ऋषि थे ये इस विद्या के पचासवें आचार्य हुए।

५१—कौण्डिन्य के शिष्य कुशक वंशीय कोई कौशिक नामक मुनि हुए। ये इस सम्प्रदाय के इक्यावनवें आचार्य हुए।

५२—कोई गौपवन नाम के मुनि हुए हैं। उन्होंने कौशिक से यह ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः कौशिक शिष्य गौपवन इस सम्प्रदाय के बावनवें आचार्य हुए।

५३—इन गौपवन के शिष्य पौतिमाष्य हुए। कहना चाहिये ये पौतिमाष्य इस सम्प्रदाय के अन्तिम आचार्य हुए। इनके अनन्तर ब्रह्म की परम्परा छिन्न-भिन्न हो गयी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् नारायण से लेकर पौतिमाष्य पर्यन्त मैंने आपसे इस ब्रह्मविद्या की आचार्य परम्परा का वर्णन किया। यहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय का अन्तिम छठा ब्राह्मण समाप्त हुआ। अब तृतीय अध्याय में जैसे जनक याज्ञवल्क्य सम्वाद होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पन्था सौभर शिष्य वत्सनय पात वाभ्रव।
तिनि विदर्भि कौण्डिन्य दई तिनि मुनिवर गालव॥
पुनि कुमार हारीत फेरि कौशोर्य काप्य मुनि।
लई फेरि शाण्डिल्य वात्स्य मुनि गौतम ने पुनि॥
यों मधुविद्या यथा क्रम, पौतिमाष्य मुनि तक गई।
सम्प्रदाय पुनि कालवश, छिन्न भिन्न इततैं भई॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय का
छठा वंश ब्राह्मण समाप्त।
द्वितीय अध्याय समाप्त

जनक यज्ञ में याज्ञवल्क्य और अश्वल का शास्त्रार्थ

[२२७]

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपाञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवां सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥*

(बृ० उ० ३ अ० १ ब्रा० १ म०)

छप्पय

मधुविद्या में निपुण जनक वैदेह नृपतिवर ।
बृहद् दक्षिणायुक्त रच्यो इक यज्ञ श्रेष्ठतर ॥
कुरु पाचाल सुदेश अन्य देशनि आये द्विज ।
सहस धेनु नृप रोकि जानिवे उत्तम ऋत्विज ॥
कह्यो होइ महिष्ठ जो, सो गैयनि ले जाइ अब ।
सबके सींगनि पाद दश, कनक बँध्यो, सुनि सहमि सब ॥

---

* राजा जनक वैदेह ने बहुत दक्षिणा वाला यज्ञ किया। उसमें कुरु पाचाल देश के ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस राजा विदेह को यह जिज्ञासा हुई कि इन एकत्रित ब्राह्मणों में कौन परमश्रेष्ठ अनुवचन कर्ता–ब्रह्मिष्ठ–है। इस निमित्त उन्होंने एक सहस्र गौएँ रोक रखी, उन सबके सींगों में दश-दश पाद सोना बँधा हुआ था।

प्राचीनकाल में विधि विधानों का निर्णय तो ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही किया करते थे। राजाओं की सभाओं में तो ब्रह्मज्ञान की चर्चा हुआ करती थी। सभी राजाओं की सभा में राजपंडित सभासद होते थे। वे ब्रह्मज्ञान की तथा साहित्य की चर्चा करते। बाहर से जो विद्वान ब्राह्मण आते, राजा उनका स्वागत-सत्कार करते। अपने पंडितों से उनका शास्त्रार्थ कराते और जीतने पर उन्हें यथेष्ट पुरस्कार प्रदान करते। उस समय राजसभाओं में शास्त्रार्थ की ही धूम मची रहती थी।

राजागण बड़े-बड़े यज्ञ किया करते थे। अवकाश के समय में पंडितों का शास्त्रार्थ होता, उसमें सभी अपने को सर्वश्रेष्ठ विद्वान् सिद्ध करने का प्रयत्न करते। वह सुवर्ण समय था। अब तो राजा ही नहीं रहे। जो नाममात्र की राजपरिषदें हैं, उनमें निरर्थक शुष्क वाद-विवाद प्रायः विद्याबुद्धि से हीन सभापद करते रहते हैं। जिनका ब्रह्मज्ञान से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इन समस्त राजाओं में मिथिला देश के राजा जनक ब्रह्म-ज्ञानियों में श्रेष्ठ थे और उनकी राजसभा में पंडित भी बहुत रहते थे तथा सदा बाहर से विद्वान् आते ही रहते थे। वे भी विद्वानों को प्रोत्साहित करने के निमित्त भाँति-भाँति के आयोजन करते रहते थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब इस देश में ब्रह्मविद्या को ही सर्वश्रेष्ठ विद्या और ब्रह्मवेत्ताओं को ही सर्वश्रेष्ठ पूजनीय पुरुष माना जाता था, तब यहाँ ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों का सर्वत्र समादर होता था, उन्हें दान दक्षिणा में पुष्कल द्रव्य प्राप्त होता था, उन दिनों गोधन को ही सर्वश्रेष्ठ धन माना जाता था। एक

वार ब्रह्मज्ञानियों का आदर करने वाले और स्वयं भी ब्रह्मविद्या मे निपुण मिथिला देश के राजा जनक ने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया। उसमे दूर-दूर देश के विद्वान् ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया गया। राजा के यज्ञ की बात सुनकर सभी देशो के विद्वान् ब्राह्मण वहाँ एकत्रित हुए। उन दिनों कुरुक्षेत्र से काशी तक का यह गगा-यमुना का क्षेत्र सबसे अधिक पवित्र माना जाता था, इसी देश के ब्राह्मणों का सदाचार सर्वश्रेष्ठ माना जाता था और उसी का अनुकरण पृथ्वी भर के मनुष्य किया करते थे। राजा जनक के यज्ञ मे कुरुदेश तथा पाञ्चाल देश के भी बहुत बड़े बड़े विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए थे।

राजा जनक तो स्वय भी ब्रह्मज्ञानी थे। इनकी वश परम्परा में जितने भी राजा हुए सभी जनक तथा विदेह कहलाये और प्रायः सभी ब्रह्मवेत्ता हुए। राजा ने यह जानने के लिये, कि इन सब एकत्रित विद्वान् ब्राह्मणों मे कौन अनूचानतम है। कौन सर्वश्रेष्ठ अनुवचन-प्रवचनकर्ता है, एक पण रखा।

उनकी गौशाला मे लाखो गौएँ थीं। और सब गौओं को तो गोचारक चराने के लिये जगलो मे खोलकर ले गये। किन्तु राजा ने एक सहस्र सुन्दर दुधारू बछडे सहित गौएँ गौशाला मे ही रोक रखीं। उनको भली-भाँति सजाया। उनको वस्त्र उढा-कर खुरों को चाँदी से मढकर पूँछ मे मोती जडकर प्रत्येक के सींग में दश दश पाद (लगभग आधा आधा सेर) सुवर्ण बाँध दिया था और वे सभा भवन के सम्मुख ही बाँध रखी थीं।

राजसभा मे जब सभी विद्वान् एकत्रित थे। तब राजा ने सिंहासन से उठकर घोषणा की—"हे पूज्यपाद ब्राह्मणो! मैं आप सबसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। आप में जो ब्रह्मिष्ठ

हों, अपने को पूर्ण ब्रह्मवेत्ता अनुभव करते हों, वे इन गौओं को ले जायँ।"

वैसे तो वहाँ एक-से एक-धुरन्धर विद्वान् बैठे थे, किन्तु अपने को सर्वश्रेष्ठ मानने का साहस किसी को भी नहीं हुआ। सभी इस घोषणा से सहम गये। कोई भी नहीं उठा। सभी चुपचाप बैठे एक दूसरे का मुख ताकते रहे। क्षण भर तक सभा में सन्नाटा छाया रहा। जब किसी का साहस न हुआ कोई भी गौओं को लेने न उठा, तब सभा की निस्तब्धता को भंग करते हुए महामुनि याज्ञवल्क्य जी ने अपने एक शिष्य ब्रह्मचारी से कहा—"सोम्य सामश्रवा! भैया, जब कोई इन गौओं को लेने को उद्यत नहीं है, तो तुम ही गौओं को खोलकर अपने आश्रम को ले जाओ।" गुरु की आज्ञा पाते ही ब्रह्मचारी सामश्रवा उठा और भी उसके साथी ब्रह्मचारी उठे जब वे उन गौओं को सच-मुच ही खोल-खोलकर ले जाने लगे, तब तो सभा में खलबली मच गयी। सभी विद्वान् ब्राह्मणों ने इसे अपना घोर अपमान समझा। वे सबके सब क्रुद्ध हो उठे। सब एक साथ क्रुद्ध होकर परस्पर में कहने लगे—"क्यों जी, यह ही अपने को अधिक विद्वान् समझता है। इसमें ऐसी क्या विशेषता है?"

सबको क्रुद्ध हुआ देखकर राजा जनक के यज्ञ का जो होता था, जिसका नाम अश्वल था, जिसकी विद्वत्ता की सर्वत्र धाक थी वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपना सबसे अधिक अपमान समझा। कहाँ तो वह सर्वमान्य राजा का होता, कहाँ उसके सामने सामान्य ब्राह्मण। सबके देखते-देखते सर्वोत्तम उपहार को बलपूर्वक ले जाय, अतः उन विरोधी समस्त पंडितों का प्रतिनिधित्व करते हुए उसने याज्ञवल्क्यजी के सम्मुख जाकर प्रश्न

किया—"क्योंजी! याज्ञवल्क्यजी! क्या आप ही इन सब विद्वान् ब्राह्मणों मे सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ हैं ?"

क्रुद्ध हुए अश्वल के प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्यजी तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने सरलता के साथ नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"ब्रह्मन्! ब्रह्मिष्ठ के पादपद्मों मे तो हम पुन-पुनः प्रणाम करते हैं। उनको तो हम बार बार नमस्कार करते हैं। जब किसी ने भी गौओं को लेना स्वीकार नहीं किया, तो हम तो गोओं की इच्छा वाले ही हैं। गौओं की हमें आवश्यकता है, इसलिये गोओं को हम ले जा रहे हैं।"

अश्वल ने कहा—"आपने महाराज की घोषणा सुनी नहीं थी क्या ? महाराज ने यही तो कहा था कि जो अपने को सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ अनुभव करता हो, वह गोओं को ले जाय। महाराज ने यह तो नहीं कहा—जिन्हे गौओं की आवश्यकता हो, वह गौओं को ले जाय।" यदि तुम अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ समझकर गौओं को ले जा रहे हो, तो जब तक हमारे प्रश्नो का समुचित उत्तर न दे दोगे जब तक हम सबको परास्त नहीं कर लोगे, तब तक गौओं को नहीं ले जा सकते। बोलो, हमारे प्रश्नों का उत्तर देने को उद्यत हो ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"पूछिये, हम जानते होंगे, तो आपके प्रश्नों का उत्तर देंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब याज्ञवल्क्यजी उत्तर देने को प्रस्तुत हो गये तब होता अश्वल ने उनसे प्रश्न करने का निश्चय किया। अब अश्वल याज्ञवल्क्य से जो प्रश्न करेंगे और मुनिवर उसका जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

याज्ञवल्क्य तब सामश्रवा निज बटु तैं बोले ।
'सब गैयनि ले चलो' सुनत बटु खूँटा खोले ॥
विप्र कुपित सब भये जनक होता अश्वल तब ।
बोल्यो—सब द्विज मध्य श्रेष्ठ वरिष्ठ तुमहिँ अब ॥
याज्ञवल्क्य बोले—करहिँ, नमस्कार वरिष्ठ कूँ ।
गोइच्छुक हम विप्रवर, लै जावैं गैयानिकूँ ॥

जनक यज्ञ में याज्ञवल्क्य और अश्वल का शास्त्रार्थ (२)

(२२८)

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिद९ सर्वं मृत्युनाप्त९ सर्वं मृत्युनाभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥*

(बृ० उ० ३ अ० १ ब्रा० ३ म०)

छप्पय

अश्वल बोल्यो-प्रथम प्रश्न उत्तर मम देओ।
करिकें हमें परास्त फेरि गैयनि कूँ लेओ॥
मृत्यु व्याप्त सब-करें अति क्रम साधक कैसे?
होता ऋत्विज आग्न वाक् मख होता ऐसे॥
वाक्, अग्नि, होता वही, वही मुक्ति अति मुक्ति है।
होता सुनि सन्तुष्ट है, बोल्यो-सुन्दर युक्ति है॥

---

* अश्वल बोला—'याज्ञवल्क्य! यह सब जो मृत्यु से व्याप्त है, सब मृत्यु द्वारा अभिपन्न है, तो यजमान मृत्यु की व्याप्ति का किस उपाय द्वारा अतिक्रमण कर सकता है।' इसके उत्तर में याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यजमान उसका अतिक्रमण होता ऋत्विक् रूप अग्नि से वाणी द्वारा कर सकता है। वाणी ही यज्ञ का होता है। वाणी ही अग्नि है वही होता, मुक्ति और अति मुक्ति है।"

कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक तो योग क्षेम के निमित्त आजीविका के लिये जैसे कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, पौरोहित्य, नौकरी आदि। दूसरे कर्म परलोक प्राप्ति के लिये। जैसे यज्ञयाग, पूजापाठ, अर्चनपूजन दान-धर्म आदि। जो कर्म आजीविका के लिये किये जाते हैं, उनका फल यहीं मिल जाता है, कृषि वाणिज्य से धन की अन्न की प्राप्ति होती है, किन्तु यज्ञ, दान तथा तपादि जो परलोक सम्बन्धी कर्म हैं, उनका फल परलोक में प्राप्त होता है। तो परलोक सम्बन्धी जो कर्म हैं, वास्तव में कर्म तो वे ही हैं। यज्ञ से अतिरिक्त जो आजीविका उपार्जन के लिये योगक्षेम चलाने को जो कर्म किये जाते हैं वे तो बन्धन के कारण हैं। इसलिये सदा ध्यानयज्ञ, हवियज्ञ, पूजायज्ञ, और नामसंकीर्तनयज्ञ इन्हीं यज्ञों को करते रहना चाहिये। योग-क्षेम के निमित्त जो कर्म करे, उन्हें भी प्रभु को पूजा समझ कर ही करे।

यह विश्व कर्मप्रधान है। किन्तु केवल कर्म समझकर यज्ञ किये जायँ, तो उनका फल स्वर्ग ही है। इन कर्मों से आवागमन से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

इन्हीं कर्मों को यदि उपासना की विधि से-ब्रह्मभाव से-करे तो ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। उससे संसार चक्र से मुक्ति मिल जाती है। अतः उपासना पूर्वक कर्म करना यही मुक्ति का द्वार है। परमपद का सोपान है। अक्रिय बनकर बैठ जाना या अग्नि-होत्र शिखा सूत्र का परित्याग कर देना यह मुक्ति का मार्ग नहीं है। कभी किसी-किसी की ऐसी अवस्था हो सकती है, कि उससे कोई कर्म ही न हो, वह अपवाद है। परमहंस वृत्ति किसी विरले को ही ऋषभ देव आदि जैसों को प्राप्त होती है, नहीं तो जड़भरत जैसे महान् ज्ञानियों ने भी शिखा सूत्र का परित्याग

नहीं किया था। उपासना पूर्वक यज्ञ किस भावना से करे, इसका वर्णन समस्त गीता में भगवान् ने बताया है। वे यज्ञ कर्म करने पर बहुत बल देते हैं। किस भाव से यज्ञ करना चाहिये, इस सम्बन्ध में भगवान् बताते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैवतेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

यज्ञों में अग्नि, अग्नि में अर्पण की जाने वाली हवि, यजमान, आहुति कर्म और कर्मों का फल इतनी वस्तुएँ हैं। इन सबको उन्हीं भावनाओं से करेगा, तो उस यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होगी और इन सबको ब्रह्म मानकर करेगा, तो स्वर्ग की प्राप्ति न होकर ब्रह्म की प्राप्ति होगी। यही उपासना पूर्वक किये जाने वाले कर्म का रहस्य है। इसी को उपासना कहते हैं। समस्त उपनिषदें उपासना प्रधान हैं। इनमें नाना प्रकार की उपानाओं का ही वर्णन है। यज्ञों में एक यज्ञकर्ता यजमान होता है, एक यज्ञ कराने वाला आचार्य होता है। ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और उद्गाता चारों वेदों के चार ऋत्विज् होते हैं। इन चारों में ब्रह्म भाव करके जो यज्ञाचरण करता है, वह मुक्ति का अधिकारी होता है। इसी यज्ञ सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान को ब्रह्म ज्ञान कहते हैं, जिन्हें इन यज्ञ सम्बन्धी कृत्यों का वास्तविक अर्थ ज्ञात है, वही ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्रह्मवेत्ता है। अश्वल ने उसी यज्ञ के सम्बन्ध में गूढ़ प्रश्न किये। याज्ञवल्क्यजी ने उनके कर्म परक उत्तर न देकर जैसे उपासना परक उत्तर दिये उनका वर्णन आगे किया जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक के होता अश्वल ने याज्ञवल्क्यजी के शिष्यों द्वारा ले जाती हुई गौओं के ले जाने पर आपत्ति की और उन्हें शास्त्रार्थ के लिये ललकारते हुए

कहा—"याज्ञवल्क्य ! हम सबको शास्त्रार्थ में परास्त किये बिना तुम गौओं को नहीं ले जा सकते। यदि तुम अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ मानते हो तो हमारे प्रश्नों का उत्तर दो। बोलो, दोगे ?"

नम्रता के साथ याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"आप प्रश्न पूछें, यदि हम उस विषय को जानते होंगे, तो आपको उत्तर देंगे।"

अश्वल ने पूछा—"अच्छा, याज्ञवल्क्यजी ! यह बताइये, यह चेतनात्मक दृश्य जगत् कैसा है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा"—इसे तो सब देख ही रहे हैं, नित्य परिवर्तनशील है।"

अश्वल ने कहा—"परिवर्तनशील तो है ही। यह मरण धर्म से व्याप्त है। संसार में जो उत्पन्न हुआ उसकी मृत्यु ध्रुव है। अतः केवल यह जगत् मृत्यु से व्याप्त ही नहीं इसने मृत्यु द्वारा सभी को वश में कर रखा है। इस दशा में यजमान किस साधन द्वारा– किस उपाय से– मृत्यु की व्याप्ति का अतिक्रमण कर सकता है ? अर्थात् वह मृत्यु को जीतकर कैसे अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है ?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"हे अश्वल ! तुम तो महाराज जनक के होता हो। देखो, यज्ञ में चार ऋत्विज् मुख्य होते हैं। शेष बारह उनके सहायक ऋत्विज् होते हैं। जो ऋग्वेद का ज्ञाता होता ऋत्विज् है, उस होता–अग्नि द्वारा–वाणी द्वारा–यजमान मृत्यु की व्याप्ति को अतिक्रमण कर सकता है। अर्थात् वाणी द्वारा मृत्यु को पार कर सकता है।"

अश्वल ने कहा—"इसे फिर से स्पष्ट कीजिये !

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, यह जो वाक् इन्द्रिय है, वही यज्ञ का होता स्वरूप है। उस होता में अध्यस्यमान–आरोपित जो यह वाक् है–वाणी है–वही वाणी मानो यज्ञ की अग्नि है। उसे

होता कहो, अग्नि कहो, वाणी कहो एक ही बात है। वह वाक्, अग्नि, अथवा होता यही मुक्ति है। वही अतिमुक्ति है। भाव यह हुआ कि यह जो यज्ञ का होता नामक ऋत्विज है इसे यजमान अग्नि रूप में देखे यही मुक्ति है। और होता में अधिष्ठित जो वाणी है उसे भी अग्नि का ही रूप माने यह अतिमुक्ति है। अर्थात् होता में, अग्नि में, वाणी में, परब्रह्म भावना करना ही मृत्यु से पार जाने का यजमान के लिये साधन है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! याज्ञवल्क्यजी के इस प्रश्न से अश्वल संतुष्ट हो गये। तब उन्होंने दूसरा यह प्रश्न किया—"अच्छा, याज्ञवल्क्य! यह बताओ, यह जो जगत् है सब दिन रात्रि से व्याप्त है। अर्थात् दिन होता है, फिर रात्रि आ जाती है, रात्रि के पश्चात् फिर दिन हो जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् दिन रात्रि के अधीन है। अर्थात् काल के अधीन है। तो यह बताओ ऐसी दशा में यजमान किस साधन द्वारा दिन रात्रि की व्याप्ति का अतिक्रमण कर सकता है? अर्थात् कैसे कालातीत हो सकता है?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखिये अश्वलजी! यज्ञों में जो यजुर्वेद का ज्ञाता अध्वर्यु ऋत्विज् होता है, वही मानों चक्षु का अधिष्ठातृ देव आदित्य है। उस आदित्य के द्वारा ही दिन रात्रि का अतिक्रमण कर सकता है, अर्थात् कालातीत हो सकता है। क्योंकि अध्वर्यु यज्ञ का चक्षु ही है। तो जो चक्षु है वही आदित्य है वही अध्वर्यु है और वही मुक्ति तथा अतिमुक्ति है। भाव यह हुआ कि अध्वर्यु में, चक्षु में और आदित्य में ब्रह्म भावना रखने से यजमान कालातीत हो सकता है। यही मुक्ति है, यही अतिमुक्ति है। यही भावना कालातीत

होने का साधन है। आदित्य भाव को प्राप्त होने पर दिन रात्रि का भेदभाव नहीं रहता।"

इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर अश्वल ने पुनः तीसरा प्रश्न किया वह बोला—"अच्छा, याज्ञवल्क्यजी यह बताइये, यह सम्पूर्ण जगत् पूर्वपक्ष और परपक्ष में व्याप्त है। उभय पक्ष के वश में ही यह सम्पूर्ण जगत् है। तो यजमान पूर्वपक्ष और पर पक्ष की व्याप्ति से कैसे पार हो सकता है? अर्थात् कैसे यह पक्षपात हीन हो सकता है?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"यज्ञ में जो सामवेद का ज्ञाता उद्गाता ऋत्विज् है, वह वायु रूप प्राण से उभयपक्ष का अतिक्रमण कर सकता है। क्योंकि प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है। और जो प्राण है, वही वायु है। वही उद्गाता है, वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है। भाव यह हुआ कि उद्गाता को प्राण को, वायु को ब्रह्मभाव से मानकर जो उपासना करता है वह पूर्वपक्ष तथा अपर पक्ष दोनों का अतिक्रमण करके मुक्त हो सकता है।"

इस तीसरे प्रश्न के उत्तर से सन्तुष्ट होकर अश्वल ने पुनः चौथा प्रश्न किया—"अच्छा याज्ञवल्क्यजी यह बताइये। यह जो अन्तरिक्ष है-आकाश है-इसका कोई अवलम्ब-चढ़ने के लिये सिढ़ढी आदि साधन—तो है नहीं। स्वर्ग इस अन्तरिक्ष से ऊपर है, तो यजमान किस अवलम्ब से-किसके सहारे से-स्वर्ग में चढ़ सकता है?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यज्ञ में जो ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वेदों का ज्ञाता जो ब्रह्मा नाम का ऋत्विज् है वही मानों मन है, मन का अधिष्ठातृदेव चन्द्रमा है। उस चन्द्रमा ही द्वारा वह स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि

ब्रह्मा ही यज्ञ का मन है, और जो मन है वही चन्द्रमा है वही ब्रह्मा है, वही मुक्ति है वही अतिमुक्ति है। अर्थात् यज्ञ के ब्रह्मा में, मन में और चन्द्रमा में ब्रह्मभाव करके स्वर्ग अर्थात् ब्रह्म के लोक को यजमान प्राप्त कर सकता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब अश्वल ने होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा चारों ऋत्विजों के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्यजी के अतिमुक्ति सम्बन्धी उत्तर सुने तो उनकी परीक्षा के निमित्त यज्ञ सम्बन्धी सम्पत्तियों के कर्मकाण्ड के प्रश्न पूछने आरम्भ कर दिये। अश्वल ने पूछा—"याज्ञवल्क्यजी! अच्छा यह बताइये। हमारा जो यज्ञ हो रहा है, उसमें प्रधान जो चार ऋत्विज् हैं, उनमें से ऋग्वेद का ज्ञाता होता नामक ऋत्विज् वह आज कितनी ऋचाओं द्वारा शस्त्रशसन (होता द्वारा की जाने वाली ऋचाओं का पाठ) करेगा ?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"ऋग्वेद की तीन संख्याओं वाली ऋचाओं द्वारा हौत्रकर्म करेगा।"

अश्वल ने कहा—"उन तीन संख्या वाली ऋचाओं के नाम बताओ। वे तीन कौन-कौन-सी हैं ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"उनमें से एक ऋचा समूह का नाम तो पुरोनुवाक्या है। अर्थात् ऋग्वेद की जिन ऋचाओं का पाठ होता यागकाल से पूर्व करता है। जब तक यज्ञ आरम्भ भी नहीं होता उसके पहिले जो ऋग्जाति की ऋचायें पढ़ी जाती हैं उन्हे पुरोनुवाक्या कहते हैं।"

दूसरी याज्या हैं। जो याग आरम्भ होने पर याग के ही लिये प्रयुक्त होती हैं।

तीसरी शस्या हैं। जो ऋचायें यज्ञ के शस्त्र कर्म के लिये अर्थात्

नियमानुसार तो शास्त्रार्थ जिस विषय पर हो उसी विषय के प्रश्न पूछने चाहिये। किन्तु जब उभयपक्ष के द्वन्द्वी प्रतिद्वन्द्वी शास्त्रार्थ करने खड़े होते हैं, तो ऐसे-ऐसे विषय के चुन-चुनकर प्रश्न करते हैं, जिस विषय का ज्ञान हमारे प्रतिद्वन्द्वी को न हो। राजा जनक ने तो यही कहा था—"आप में जो ब्रह्मिष्ठ हो वह इन गौओं को ले जाय।"

तो धर्म की बात तो यही थी, कि विपक्षियों को उनसे ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी ही प्रश्न करने चाहिये थे। न कि कर्मकाण्ड सम्बन्धी। किन्तु शास्त्रार्थ करने वाला तो अपने को सर्वज्ञ समझकर दूसरे से शास्त्रार्थ करता है और वह चाहता है, जिस विषय को हमारा प्रतिपक्षी न जानता हो, उसी विषय में मैं प्रश्न करूँ। जिससे जनता यह कह दे—"अमुक व्यक्ति उन विद्वान् के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। प्रश्न चाहे किसी भी विषय का क्यों न हो, प्रतिपक्षी को उसका उत्तर देना ही चाहिये। यदि वह नहीं दे सकता है, तो उसकी विद्या अधूरी है, उसकी पराजय है।"

श्री शंकराचार्य ने मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। तब उनकी विदुषी पत्नी सरस्वती ने कहा—"स्वामीजी! अभी तो आपने मिश्रजी के आधे ही अङ्ग को जीता है, अतः अभी आपकी विजय आधी ही मानी जायगी। मिश्रजी की अर्धाङ्गिनी तो मैं हूँ, यदि आप मुझे भी जीत लें, तभी आपकी पूरी विजय होगी। आइये मुझसे शास्त्रार्थ कीजिये।"

बात युक्तियुक्त शास्त्रानुकूल थी। स्वामी जी एक-एक करके उस विदुषी देवी के प्रश्नों का उत्तर देने लगे। उसने सोचा—ये स्वामीजी आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, कामशास्त्र के सम्बन्ध में ये अनभिज्ञ होंगे ही। अतः इनसे काम सम्बन्धी प्रश्न करूँ।

ये उन प्रश्नों का उत्तर दे ही नहीं सकेंगे। तब इनकी पराजय और मेरी विजय हो जायगी। यह सोचकर उसने भगवान् शंकराचार्य से काम सम्बन्धी ऐसे-ऐसे व्यावहारिक प्रश्न किये जिन्हें कामशास्त्र का ज्ञाता नहीं कामशास्त्र का अनुभवी ही जान सकता है।

तब स्वामीजी ने उससे उत्तर देने को कुछ काल का अवकाश चाहा। योग के प्रभाव से उन्होंने परकाया प्रवेश किया। अमरुक नाम के किसी राजा का देहान्त हो गया था, उसके मृत शरीर में प्रवेश करके उससे उन्होंने काम क्रियाओं का अनुभव किया और उसी अनुभव के आधार पर उसे शास्त्रार्थ में पराजित करके विजय प्राप्त की।

। यद्यपि ऐसे अप्रासंगिक प्रश्न करना नियम के विरुद्ध ही है, किन्तु शास्त्रार्थ करने वाला तो जैसे हो तैसे विपक्षी को पराजित करना चाहता है।

इसी प्रकार जब अश्वल उपासना सम्बन्धी प्रश्नों से याज्ञवल्क्यजी को पराजित न कर सका तब उसने कर्मकाड के सम्पत सम्बन्धी प्रश्न किये। याज्ञवल्क्य जी तो कर्म, उपासना तथा ज्ञान तीनों काण्डों में पारगत थे। अतः उन्होंने यह नहीं कहा—:भाई, ज्ञानकाण्ड सम्बन्धी प्रश्न करो। ऐसे प्रश्न क्यों करते हो, कि होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा ये यज्ञ के ऋत्विज् आज किन-किन ऋचाओं द्वारा स्तवन करेंगे और इनका फल क्या क्या होगा ? ये तो यज्ञों के कर्मकाण्ड के कृत्य हैं।" किन्तु उन्होंने ऐसा न कहकर अश्वल ने जो भी प्रश्न किये उन सभी का यथार्थ उत्तर दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अश्वल ने सम्पत् सम्बन्धी प्रश्न करके होता के शस्त्रशंसन का प्रश्न किया तब याज्ञवल्क्यजी

ने उसका यथार्थ उत्तर दे दिया। तब अश्वल ने अध्वर्यु ऋत्विज् आहुतियों के सम्बन्ध में पूछा।"

शौनकजी ने पूछा—" 'सम्पद्' किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जिसके द्वारा सम्पदा प्राप्त की जाय अथवा सम्पदा का जो फल स्वर्गादि लोक हैं, उन्हें प्राप्त किया जाय। यह कर्मकाण्ड का विषय है।

कुछ लोग सम्पद् का अर्थ सम्पादन करते हैं। जैसे हम कोई भी छोटा-मोटा यज्ञ कर रहे हों, उसी के द्वारा अश्वमेध, राजसूयादि बड़े-बड़े यज्ञों का भावना के द्वारा फल सम्पादन करलें। जैसे राजसूय यज्ञ सभी नहीं कर सकते। किन्तु भावना द्वारा अन्य यज्ञों में उसके फल की भावना की जाय तो राजसूय यज्ञ किये बिना ही उसके फल की प्राप्ति हो सकेगी, यही सम्पद् है। कुछ भी क्यों न हो यह भी कर्मकाण्ड का ही विषय है। हाँ तो आगे अश्वल ने यज्ञ के यजुर्वेद के ज्ञाता अध्वर्यु के कर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया।

अश्वल ने कहा—"याज्ञवल्क्य जी ! यह बताइये। यजुर्वेद का ज्ञाता यज्ञ का अध्वर्यु आज कितनी आहुतियों का हवन करेगा ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"तीन प्रकार की आहुतियों द्वारा अध्वर्यु हवन करेगा।"

अश्वल ने पूछा—"वे तीन आहुतियाँ कौन-कौन-सी हैं ? उनके नाम बताइये।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"पहली आहुतियाँ तो वे हैं, जो होम किये जाने पर प्रज्वलित होती हैं।

दूसरी आहुतियाँ वे हैं जो होम किये जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं और तीसरी आहुतियाँ वे हैं जो होम किये जाने पर

पृथ्वी के ऊपर लीन हो जाती हैं। इन्हीं तीन प्रकार की आहुतियों द्वारा आज अध्वर्यु हवन कुण्ड में होम करेगा।"

अश्वल ने कहा—"इन आहुतियों का फल क्या होगा? इनके द्वारा यज्ञ का जो यजमान है, वह किन लोकों को जीतता है?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"इन तीन प्रकार की आहुतियों द्वारा यजमान तीनों लोकों को जीत लेता है।"

अश्वल ने पूछा—"किन आहुतियों द्वारा किन लोकों को यजमान जीतता है। इसे पृथक् पृथक् बताइये।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"जिन पहिली आहुतियों से जो हवन करने पर प्रज्वलित होती हैं, उनसे तो यजमान देवलोक को जीत लेता है, क्योंकि स्वर्गलोक मानों देदीप्यमान हो रहा हो।

दूसरी जो आहुतियाँ हैं, जिनके द्वारा होम किये जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनके द्वारा यजमान पितृलोक को जीत लेता है, क्योंकि पितृलोक मानों अत्यन्त शब्द करने वाला है।

तीसरी आहुतियाँ जो होम करने पर पृथ्वी पर लीन हो जाती हैं, उनके द्वारा यजमान पृथ्वी लोक के समस्त वैभव को जीत लेता है, क्योंकि मनुष्य लोक अधोवर्ती सा है।"

तदनन्तर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया—"अच्छा याज्ञवल्क्य जी! आप यह तो जानते ही हैं, चौथा ऋत्विज् जो ब्रह्मा है, वह अपने हाथ से हवन-आदि नहीं करता। वह साक्षी रूप से कर्मों को देखता रहता है और देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है, तो आप यह बताइये आज यह ब्रह्मा इस यज्ञ में दक्षिण की ओर बैठकर कितने देवताओं द्वारा इस यज्ञ की रक्षा करेगा?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"एक देव द्वारा वह यज्ञ की रक्षा करेगा।"

अश्वल ने पूछा—"किस एक देवता द्वारा यज्ञ की रक्षा करेगा ? वह एक देवता कौन है ? उसका नाम बताइये।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"वह देवता मन ही है। मन की वृत्तियाँ अनन्त हैं। विश्वेदेव मन के देवता हैं अतः वे भी अनन्त हैं।"

अश्वल ने पूछा—"इसका फल क्या होगा ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"मन की वृत्तियाँ अनन्त हैं, विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, अतः इसका फल यह होगा, कि इसके द्वारा यजमान अनन्त लोक को जीत लेगा।"

इसके अनन्तर अश्वल ने पूछा—"अच्छा, याज्ञवल्क्य जी ! यह बताइये, कि यज्ञों में जो सामवेद का विद्वान् उद्गाता ऋत्विज् होता है, वह सामवेद की ऋचाओं का उद्गायन करता है,तो हमारे इस यज्ञ में उद्गाता आज कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन–उद्गायन करेगा ?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा – "आपके इस यज्ञ में आज उद्गाता तीन प्रकार की ऋचाओं द्वारा उद्गायन करेगा।"

अश्वल ने पूछा—"वे तीन कौन-कौन-सी ऋचाएँ हैं, उनके पृथक्-पृथक् नाम बताइये ?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"पहली ऋचा समूह का नाम पुरोनुवाक्या है, दूसरी का नाम याज्या है और तीसरी का नाम शस्या है। जो ऋचायें हवन के पूर्व गायी जाती हैं, वे पुरोनुवाक्या ऋचायें हैं। जो हवन करने पर गायी जाती हैं, वे याज्या ऋचायें हैं और जो अन्त में शस्त्र कर्म के लिये स्तुति के लिये गायी जाती हैं शस्या कहलाती हैं।"

अश्वल ने कहा—"ये ऋचायें तो बाह्य हुईं इनमें जो शरीरान्तर्वर्ती हैं–वे कौन-कौन-सी हैं ?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"जिनको हम पुरोनुवाक्या कहते हैं वे सर्वप्रथम गायी जाती हैं। दशों प्राणों में से शरीरान्तवर्ती प्राणवायु सर्वश्रेष्ठ है। सर्वप्रथम इस प्राणवायु को ही पुरोनुवाक्या समझना चाहिये।

याज्या ऋचायें मध्यमा हैं, अपान भी मध्यम प्राण है अतः अपान वायु को याज्या जानना चाहिये।

शरीरान्तवर्ती व्यान वायु अन्तिम है और सर्वव्यापक है, उसी प्रकार शस्या ऋचायें भी अन्तिम स्तोत्रिया ऋचायें हैं अतः शरीरान्तवर्ती व्यान वायु ही शस्या हैं।"

अश्वल ने पूछा—"इनका फल क्या है ? इनके द्वारा यज्ञ का यजमान किन-किन लोकों पर जय प्राप्त कर सकता है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"इन तीनों स्तोत्रिया ऋचाओं द्वारा यजमान तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर सकता है।"

अश्वल ने पूछा—"किन स्तोत्रिया ऋचाओं द्वारा किन-किन लोकों पर विजय प्राप्त कर सकता है। इनका पृथक् पृथक् विवरण बताइये ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, अश्वलजी ! तुमतो स्वयं ही इस यज्ञ के होता हो। तुम सब जानते हो, तथापि आपके पूछने पर बताता हूँ। पुरोनुवाक्या ऋचायें सर्वप्रथम प्रयुक्त की जाती हैं अतः ये प्रथम हैं। तीनों लोकों में भूलोक प्रथम है, अतः प्रथम पुरोनुवाक्या ऋचाओं से यजमान भूलोक पर विजय प्राप्त कर सकता है। कब ? जब सम्पद् भावना से इनका प्रयोग किया जाय।

मध्यम ऋचायें याज्या हैं और मध्यमलोक अन्तरिक्ष लोक है, अतः याज्या द्वारा अन्तरिक्ष लोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

शस्या ऋचाएँ अन्तिम हैं और स्वर्गलोक भी अन्तिम हैं। अतः शस्या ऋचाओं द्वारा स्वर्गलोक–द्युलोक–पर यजमान विजय प्राप्त कर सकता है। यह मैंने सम्पद् भावना से कर्मकांड के कृत्यों का आपको उत्तर दिया। अब आप और भी जो मुझसे पूछना चाहें पूछ सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महर्षि याज्ञवल्क्यजी के युक्तियुक्त दिये हुए उत्तरों से जनक यज्ञ के होता अश्वल संतुष्ट हो गये। अब उनके पास पूछने को कोई प्रश्न ही शेष नहीं रहा, इससे वे प्रश्नों से उपराम हो गये अर्थात् उन्होंने मौन धारण कर लिया। अश्वल के चुप हो जाने पर अपने को अधिक विद्वान् मानने वाले जरत्कारु गोत्र में उत्पन्न होने वाले ऋतभाग के पुत्र जारत्कारव आर्तभाग मुनि ने जैसे याज्ञवल्क्यजी से अनेक प्रश्न किये और उनका याज्ञवल्क्यजी ने जो-जो उत्तर दिया, इन दोनों के प्रश्नोत्तर का वर्णन मैं आगे करूँगा। यहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय का प्रथम अश्वल ब्राह्मण समाप्त हुआ आगे दूसरा आर्तभाग ब्राह्मण आरम्भ होगा।

छप्पय

उद्गाता इत तोत्र स्तवन मख आज करै कति ?
प्राण अपानहु व्यान प्रथम, याज्या, शस्याऋचि ॥
पुरोवाक्य भूलोक जीति याज्यातैं मध्यम।
शस्यातैं दिविलोक जीति यजमान सु-उत्तम॥
याज्ञवल्क्य उत्तर दये, अश्वल सुनि चुप ह्वै गयो।
आर्तभाग सम्वाद पुनि, याज्ञवल्क्यजी तैं भयो॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
प्रथम अश्वल ब्राह्मण समाप्त

याज्ञवल्क्य और जारत्कारव आर्तभाग का शास्त्रार्थ

[२३०]

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥*

(बृ० उ० ३ अ० २ ब्रा० १ म०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य तें प्रश्न आर्तभाग हु पूछे पुनि ।
ग्रह अतिग्रह कति होइँ?आठ ग्रह अतिग्रह हु सुनि ॥
प्राण, वाक, 'ग्रह' जीभ, चक्षु, मन, श्रोत्र, त्वचा, कर ।
'अतिग्रह' कहे अपान, नाम, रस, रूप, शब्द अरु ॥
काम, कर्म, अरु परस, सब, आठ अतिग्रह सबनि कूँ ।
करें काज सब जगत के, गहें आपने विषय कूँ ॥

संसार में निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग दो मार्ग हैं। दोनों ही मार्गों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। निवृत्तिमार्ग ज्ञान वैराग्य

---

* तदनन्तर याज्ञवल्क्य जी से जरत्कारु गोत्र वाले ऋतभाग के पुत्र आर्तभाग ने पूछा—"याज्ञवल्क्य ! ग्रह और अतिग्रह कितने-कितने हैं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"दोनों आठ-आठ हैं ?" आर्तभाग ने पूछा—"वे आठ-आठ कौन-कौन-से हैं ?"

परक है। गृहस्थ धर्म को स्वीकार न करके विवेक वैराग्य द्वारा सबका त्याग करके सदा ब्रह्म विचार में ही निमग्न रहना यह निवृत्तिमार्ग है। ऐसे निवृत्तिमार्गानुगामी त्रैलोक्य को पार करके महर्जनतपादि लोकों को प्राप्त होकर क्रम से मुक्त हो जाते हैं। या उत्कट ज्ञान होने पर किसी भी लोक में बिना गये तत्काल यहीं विमुक्त हो जाते हैं।

प्रवृत्तिमार्ग वालों को दारग्रहण–विवाह–परमावश्यक होता है। गृहस्थी बिना बने प्रवृत्तिमार्ग परक कर्म सम्पन्न हो ही नहीं सकते। गृहस्थ का अर्थ ही है घर में रहने वाला। ईंट पत्थर के बने घर को गृह नहीं कहते। घरवाली ही गृह है। धर्मपत्नी के बिना गृहस्थ यज्ञ यागादि पुण्य कर्म नहीं कर सका। 'गृहिणी का वरण संतान के निमित्त होता है। गृहस्थ होने पर जिसके पुत्र या पुत्री न हों, उसकी गति नहीं होती। पितर सदा यही चाहते हैं, कि हमारी वंश परम्परा चलती रहे। हमारे कुल का वंश विच्छेद न हो। ऐसा न हो कि हमारे वंश में कोई पितरों को जल देने वाला न रहे। महाभारत जो प्रवृत्ति प्रधान ग्रन्थ है, उसमें ऐसी अनेकों कथायें हैं, कि बिना पुत्र के ऋषियों की कैसी दुर्गति हुई और उनके पितरों ने कितना कष्ट पाया। इसी सम्बंध की महाभारत देवीभागवत तथा अन्यान्य पुराणों में महर्षि जरत्कारु की कथा आती है। वह इस प्रकार है।

महर्षि जरत्कारु नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। उन्होंने प्रवृत्तिमार्ग के पथिक होने पर भी विवाह नहीं किया। विवाह उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य धारण के उद्देश्य से न किया हो सो बात नहीं। विवाह करना तो वे चाहते थे, किन्तु उनकी एक हठ थी, मैं उसी कन्या से विवाह करूँगा जो मेरे ही नाम वाली होगी। इसी हठवादिता के कारण उन्हें उनके नाम वाली कन्या मिली नहीं उनका विवाह

हुआ नहीं। प्रतीत होता है, ये स्वभाव के भी उग्र रहे होंगे। क्रोध के कारण जब इनको मन चाही वहू नहीं मिली, तो इन्होंने विवाह का विचार छोड़कर घोर तपस्या मे ही अपना मन लगा लिया। ये यायावर हो गये। अर्थात् निरन्तर घूमते ही रहते थे।

एक अँधेरे कूप में लम्बी घास के सहारे इनके पितर लटके हुए थे, उस घास की जड को भी चूहे काट रहे थे। उन पितरों की ऐसी दुर्दशा देखकर जरत्कारु मुनि ने उनसे पूछा—"आप लोग कौन हो, आपकी यह दुर्दशा क्यों हो रही है ?"

पितरों ने कहा—"हम पितर गण हैं। हमारे वश का अब नाश होने ही वाला है। हमारे वंश मे अब कोई रह नहीं गया है। एक जरत्कारु रह गया है। वह ऐसा मूर्ख है कि विवाह करके सन्तान पैदा करता ही नहीं। सदा तपस्या में ही लगा रहता है उसी की मूर्खता के कारण हम कष्ट पा रहे हैं। आप कौन हैं ? जो हमसे इस प्रकार अपनेपन से दयावश पूछ रहे हैं ? आपको कहीं जरत्कारु मिले तो आप उसे हमारी यह दुर्दशा सुनावें और उसे विवाह करने को कहें।"

जरत्कारु मुनि ने कहा—"वह अभागा जरत्कारु मैं ही हूँ। मै विवाह आपके कहने पर अवश्य करूँगा। किन्तु करूँगा तभी जब मेरे ही नाम की कन्या मिलेगी।"

पितरों ने कहा—"तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हे अवश्य तुम्हारे नामकी कन्या मिल जायगी उससे विवाह करके वंश चलाना। वश का उच्छेद न होने देना।"

पितरों को आज्ञा पाकर जरत्कारु पृथ्वी पर घूमने लगे। इधर जब नागों की माता ने अपने पुत्रों को शाप दे दि

तुम जन्मेजय के सर्प यज्ञ में जला दिये जाओगे, तब वासुकी नाग ब्रह्माजी के समीप गये और उनसे शाप का सब समाचार कहा, तब ब्रह्माजी ने कहा—"अपनी बहिन जिसका नाम जरत्कारु है,उसका विवाह जरत्कारु मुनि से कर देना। उससे जो पुत्र होगा। वह तुम्हें जन्मेजय के यज्ञ में जलने से बचा लेगा।"

ब्रह्माजी की बात सुनकर वासुकी लौटकर आया संयोग से वन में उसे जरत्कारु मुनि मिल गये। उनके साथ वासुकी ने अपनी बहिन का विवाह कर दिया। अपने ही नाम की पत्नी पाकर मुनि ने भी विवाह करना स्वीकार कर लिया। किन्तु उन्होंने इस पण के साथ विवाह किया, कि यदि यह मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई अप्रिय कार्य करेगी, तो मैं इसे छोड़कर चला जाऊँगा। वासुकी को तो अपना काम निकालना था, अतः उसने अपनी बहिन को समझा दिया, मुनि जो भी कहें, वही करना उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी कार्य न करना।

जरत्कारु ने इसे स्वीकार किया और वह सदा डर-डरकर व्यवहार करती जिससे क्रोधी मुनि उसे छोड़कर चले न जायँ।"

मुनि वन में पर्ण कुटी बनाकर अपनी पत्नी के साथ रहने लगे। एक दिन दोपहर का भोजन करके मुनि को निद्रा आ गई। वे अपनी स्त्री की गोद में सिर रखकर सो गये और सोते समय अपनी स्त्री से कह गये—"मुझे जगाना नहीं। जब सोते-सोते सायंकाल हो गया, सूर्य अस्त होने ही वाले थे, तब उनकी पत्नी ने सोचा—"सूर्य अस्त हो गये, तो इनकी सायंकालीन संन्ध्या लोप हो जायगी। धर्म की हानि होगी। इसलिये इन्हें जगा देना चाहिये। फिर उसने सोचा—"मैं जगा दूँगी, तो मुनि क्रुद्ध हो जायँगे। मुझे छोड़कर चले जायँगे। अब मैं क्या करूँ।"

बहुत सोचने के अनन्तर उसने यही निश्चय किया, कि मुनि

का धर्म लोप नहीं होना चाहिये। धर्म की रक्षा हो जाने पर फिर चाहे वे मेरा भले ही परित्याग कर दें।" ऐसा निश्चय करके उसने शनैः-शनैः पति के पैरों को दबाकर उन्हें जगाया। जगते ही मुनि परम क्रोधित हुए। उन्होंने क्रोध में भरकर पूछा–"मुझे तैंने क्यों जगाया ?"

पत्नी ने नम्रता से कहा—"सूर्य अस्त होने ही वाले थे। सायं सन्ध्या का लोप होने से आप के धर्म का लोप हो जाता, अतः धर्म रक्षा के निमित्त मैंने आपको जगा दिया।"

यह सुनकर मुनि और भी कुपित होकर बोले—"तू मेरे तप के प्रभाव को नहीं जानती सूर्य का ऐसा साहस कहाँ, कि मैं जब तक सन्ध्या न कर लूँ तब तक वह अस्त हो जाय ? तैंने मेरी इच्छा के विरुद्ध बर्ताव किया। लो, अब मैं जाता हूँ।" ऐसा कहकर मुनि तुरन्त उसे छोड़कर चले गये। वासुकी की बहिन रोती-की-रोती ही रह गयी। मुनि ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया।"

समाचार सुनकर वासुकी प्रभृति सब नाग अपनी बहिन के पास आये। उन्हें मुनि को चिन्ता नहीं थी, उन्हे तो अपनी बहिन के पुत्र की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने उससे पूछा—"तेरे गर्भ है ?"

उसने लजाते हुए कहा—"चलते समय वे यह कह गये हैं "अस्ति" अर्थात् तेरे उदर में गर्भस्थ बालक है।"

उसी से जो बालक हुआ उसका नाम आस्तिक रखा। जिसने जनमेजय के सर्प यज्ञ को बन्द कराकर उसमें जलने से नागों की रक्षा की। इन आस्तिक मुनि के पुत्र या पौत्र कोई ऋतभाग मुनि हुए। उन ऋतभाग के पुत्र आर्तभाग हुए। जरत्कारु गोत्र में उत्पन्न होने के कारण ये जारत्कारव आर्तभा

के नाम से प्रसिद्ध थे। ये भी बड़े विद्वान् थे। जनक के यज्ञ में ये आर्तभाग मुनि भी आये हुए थे। जब याज्ञवल्क्य जी ने जनक के होता अश्वल को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। तब उनसे शास्त्रार्थ करने ये आर्तभाग मुनि ही उनके सम्मुख आये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अश्वल चुप हो गये तब जरत्कारु गोत्रीय आर्तभाग याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ करने उनके सम्मुख आये। आर्तभाग मुनि ने कहा—"याज्ञवल्क्य! हम तुमसे कुछ पूछें ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"पूछिये।"

तब आर्तभाग ने पूछा—"अच्छा, याज्ञवल्क्यजी! यह बताइये ग्रह कितने हैं ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"ग्रह आठ हैं।"

आर्तभाग—"अच्छा अतिग्रह कितने हैं ?"

याज्ञ०—"वे भी आठ ही हैं।"

आर्त०—"अच्छा, ग्रह कौन-कौन-से हैं और अतिग्रह कौन-कौन से हैं ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"पहिला ग्रह प्राण है। वह प्राण अपान रूप अतिग्रह से ही ग्रहीत है। क्योंकि अपान वायु का सम्बन्ध घ्राण से है। अतः गन्धों को अपान से ही सूँघता है। अतः प्रथम ग्रह प्राण (श्वास) और प्रथम अतिग्रह अपान (प्रश्वास) है। श्वास प्रश्वास घ्राण से लिये जाते हैं अतः प्राण से यहाँ घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण करना चाहिये। गन्ध का ज्ञान प्रश्वास द्वारा ही होता है।

द्वितीय ग्रह वाणी है। वह नाम रूप अतिग्रह से ग्रहीत है। जितने नामात्मक शब्द हैं, वे सबके सब वाणी द्वारा ही उच्चारण किये जाते हैं। वाणी न हो तो कोई नामात्मक शब्द न बोला

जाय। इन्द्रियों से विषय बलवान् होते हैं। अतः विषयों को ग्रहण करने के कारण इन्द्रियाँ ग्रह कहलाती हैं और इन इन्द्रियों के अर्थ हैं–विषय हैं–वे इन्द्रियों की अपेक्षा परे हैं, बलवान हैं, प्रबल हैं अतः ये अतिग्रह कहलाते हैं। अतः वाणी-वाक् ग्रह है और उसका जो विषय नामरूप शब्द है वह अतिग्रह है।

अब तीसरा ग्रह रसना इन्द्रिय है। अर्थात् रसना--जिह्वा है उसका विषय मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त भेद से ६ प्रकार का रस होता है। अतः रस अतिग्रह है। विविध रसों का रसास्वादन रसना द्वारा ही होता है। अतः तीसरा ग्रह रसना, तीसरा अतिग्रह रस है।

चौथा ग्रह चक्षु इन्द्रिय है। जितने श्वेत, पीत, हरितादि रूप हैं, उन रूपों का ज्ञान नेत्रों द्वारा ही होता है। अतः चक्षु ग्रह है और रूप अतिग्रह है।

पाँचवाँ ग्रह श्रोत्र है। जो भी शब्द सुना जाता है सब श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही सुना जाता है। शब्द का ग्रहण श्रोत्र ही करते हैं। अतः श्रोत्र ग्रह है उसका जो विषय शब्द है, वही अतिग्रह है।

छटा ग्रह मन है। मन भी भीतर की इन्द्रिय है इसीलिये इसे अन्तःकरण–भीतरी इन्द्रिय–कहते हैं। विषयों की इच्छा करना इसका विषय है। अतः इच्छा अतिग्रह है। इच्छा कहो, काम कहो, मनोभव कहो सबका एक ही अर्थ है। इसलिये मन ग्रह है और काम तथा इच्छा अतिग्रह है।

सातवाँ ग्रह दोनों हस्त हैं। क्योंकि, उठाना, धरना, ऊपर को उछालना आदि जितने कर्म हैं सब हाथों द्वारा ही किये जाते हैं। सब वस्तुओं को ग्रहण करने के कारण हस्त ग्रह हैं और उनसे किये जाने वाले कर्म अतिग्रह हैं। हाथ से पैर, शिश्न, गुद चारों कर्मेन्द्रियों को ग्रहण करना चाहिये। वैसे शिश्न, गुद·

ये ग्रहण नहीं करते परित्याग करते हैं। पैर भी ग्रहण नहीं करते वे गतिमान है। कर्मेन्द्रियों में ग्रहण करने वाली दो ही इन्द्रियाँ हैं वाक् और हस्त। ज्ञानेन्द्रियों में पाँचों विषयों को ग्रहण करती है। भीतर की जो चार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार हैं–मन के कहने से चारों का ही बोध होता है। अतः ग्रहण करने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रिय, दो कर्मेन्द्रिय और एक मन ऐसे आठ ही ग्रह हैं और इन आठों के विषय ही अतिग्रह कहाते हैं। अब तक सात ग्रह और अतिग्रह का वर्णन हो चुका।

आठवाँ ग्रह त्वचा है, क्योंकि जितने भी शीत, उष्ण, मृदु, कठिन आदि स्पर्श हैं सबका ज्ञान त्वचा से ही होता है, अतः त्वचा ग्रह और उसका विषय स्पर्श अतिग्रह है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! आर्तभाग महर्षि ने प्रथम ग्रह अतिग्रह कितने हैं, उनके नाम क्या-क्या हैं, यह प्रश्न किया था, याज्ञवल्क्य जी ने इस प्रथम प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे दिया। तब आर्तभाग ने द्वितीय प्रश्न पूछा।"

आर्तभाग को प्रथम प्रश्न का जब उत्तर प्राप्त हो गया। तब उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछते हुए कहा—"याज्ञवल्क्य जी! अच्छा, यह बताइये, यह जो दृश्यमान् चर, अचर, स्थावर जङ्गम जगत् है, सबका सब मृत्यु का खाद्य है, इस मृत्यु को भी जो खा जाय मृत्यु भी जिसका खाद्य बन जाय वह कौन देवता है?"

इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"देखिये पहले सोचिये मृत्यु है क्या? यह अग्नि ही मृत्यु है। अग्नि सब को जला देती है। जठराग्नि अपना कार्य बन्द कर देती है, प्राणी मर जाता है। वह मृत्यु रूप अग्नि जल का खाद्य है। जल अग्नि को खा जाता है। अग्नि प्रज्वलित हो रही हो उस पर जल डाल

दो तो वह जल अग्नि को खा जायगा। अग्नि बुत जायगी। समाप्त हो जायगी। जल क्या है ? जीवन ही जल है। अर्थात् जीवन का खाद्य मृत्यु है। यह रहस्य की बात है। जो इस रहस्यमय बात को भली भाँति जानता है, कि वीर्य तेजमय होने से अग्नि भी है और द्रव होने से जल भी है। वीर्य के पतन से मृत्यु है, वीर्य के धारण से जीवन है। इस रहस्य को जानने का फल यह है, कि इसका ज्ञाता अपमृत्यु को जीत लेता है। उसकी कभी अकाल मृत्यु नहीं होती। सुखपूर्वक पूर्ण आयु का उपभोग करता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब आर्तभाग के द्वितीय प्रश्न का भी याज्ञवल्क्य जी ने यथावत् उत्तर दे दिया तो उन्होंने उनसे तीसरा प्रश्न पूछते हुए कहा—"याज्ञवल्क्य जी ! अच्छा यह बताइये जब यह प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है, उस समय म्रियमाण पुरुष के प्राण पहिले ही निकल जाते हैं अथवा जीवात्मा के साथ संयुक्त होकर उसके साथ निकलते हैं ? यह मेरा तीसरा प्रश्न है।"

इस तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"नहीं, नहीं। प्राण तो जीवात्मा को छोड़कर पहिले ही शरीर से चले जाते हैं। मृतक शरीर की श्वास-प्रश्वास-प्राण-अपान-कार्य नहीं करते प्राण भीतर रहने वाली वायु का नाम है। वायु बाहर चलने वाले पवन को कहते हैं। प्राण जब शरीर को छोड़ देते हैं तो वह शरीर प्राणहीन मृतक बन जाता है। उस मृतक शरीर में बाहर की वायु भर जाती है। जिससे मृतक शरीर भारी हो जाता है। वह निश्चेष्ट होकर चुप चाप पड़ा रहता है, मानों सो रहा हो।" मरते समय प्राण पहिले ही शरीर को छोड़कर चले जाते हैं तब जीवात्मा उसमें से

निकलता है। तब प्राण जीवात्मा में संयुक्त होकर एकीभूत हो जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तीसरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाकर आर्तभाग ने याज्ञवल्क्यजी से चौथा प्रश्न किया। आर्तभाग ने कहा—"याज्ञवल्क्यजी! यह बताइये, कि जब पुरुष मरता है तब इन्द्रिय, विषय, इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव, अन्तःकरण तथा प्राण ये सभी पुरुष का परित्याग करके चले जाते हैं। ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मरने पर भी पुरुष का परित्याग नहीं करती ?"

इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"वह वस्तु है नाम। शरीर के नाश होने पर भी पुरुषों के नाम का नाश नहीं होता। रामायण महाभारतादि के पात्र पुरुष मर गये, किन्तु उनका नाम अभी तक विद्यमान है। नामाभिमानी विश्वेदेवा अनन्त है नाम भी अनन्त है अतः नाम का ही नाश नहीं होता। जो विद्वान् इस अनन्ता के रहस्य को जान लेते हैं, वे. अनन्त-शाश्वत-लोक को जीत लेते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने चार प्रश्नों का यथावत् उत्तर पाकर आर्तभाग ने पाँचवा अन्तिम प्रश्न पूछते हुए कहा—"अच्छा, याज्ञवल्क्यजी! यह बताइये। जिस समय पुरुष मर जाता है, तब उसकी वाणी तो अग्नि में मिल जाती है। प्राण उसके वायु में विलीन हो जाते हैं। चक्षु आदित्य में समा जाती हैं। मन चन्द्रमा में, कान दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, हृदय का जो आकाश है, वह पंचभूतों वाले आकाश में, जितने रोम हैं वे सब ओषधियों में, तथा केश वनस्पतियों में मिल जाते हैं। रक्त तथा वीर्य ये जो द्रव पदार्थ हैं वे जल में लीन हो जाते हैं। उस समय पुरुष कहाँ रहता है ? किस स्थान में निवास है ?"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! सार्वजनिक स्थान मे सबके सम्मुख ऐसा रहस्यमय प्रश्न सुनकर महामुनि याज्ञवल्क्यजी कुछ मुस्कराये। प्रसन्नता प्रकट करते हुए वे महामुनि आर्तभाग से बोले—"प्रिय दर्शन आर्तभागजी ! तुमने बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया। मैं तुमसे परम प्रसन्न हूँ। कृपया अपना हाथ मेरे हाथ में तो दें। चलो, एकान्त मे मैं तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर दूँगा। उसे तुम जानो और मैं जानूँ। इसका उत्तर सार्वजनिक स्थान में नहीं दिया जा सकता।"

यह सुनकर महामुनि आर्तभाग ने प्रसन्नता पूर्वक महर्षि याज्ञवल्क्यजी का हाथ पकडा। दोनों प्रेमपूर्वक हाथ पकडे हुए भीतर एकान्त में चले गये। दोनों ने इस विषय पर बैठकर परस्पर में विचार किया। दोनो ने परस्पर में ऊहापोह करके यही निश्चय किया कि कर्म ही मुख्य है। यह पुरुष कर्माधीन ही है। एकमात्र कर्म ही प्रशंसनीय है। जो पुरुष शुभ कर्म करता है, वह पुण्य-लोकों मे चला जाता है। जो पुरुष पापकर्म करता है, वह नरकादि अधम लोकों में चला जाता है। पुण्यकर्म करके पुरुष पुण्य वान् होता है पुण्य मे निवास करता है। पाप कर्म करके पापी कहलाता है। अतः मरने पर जेसे जिसके कर्म होते हैं, वैसी उसकी गति होती है कर्मानुसार पुरुष पुण्य पाप मे रहता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार आर्तभाग मुनि ने महर्षि याज्ञवल्क्यजी से पाँच प्रश्न किये। याज्ञवल्क्यजी ने भी उनके यथातथ्य उत्तर दे दिये। इससे आर्तभाग मुनि सन्तुष्ट हो गये। अब आगे तृतीय ब्राह्मण में महर्षि भुज्यु और याज्ञवल्क्य जी का जेसे शास्त्रार्थ होगा, दोनों में जेसे प्रश्नोत्तर होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

निकलता है। तब प्राण जीवात्मा में संयुक्त होकर एकीभूत हो जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तीसरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाकर आर्तभाग ने याज्ञवल्क्यजी से चौथा प्रश्न किया। आर्तभाग ने कहा—"याज्ञवल्क्यजी! यह बताइये, कि जब पुरुष मरता है तब इन्द्रिय, विषय, इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव, अन्तःकरण तथा प्राण ये सभी पुरुष का परित्याग करके चले जाते हैं। ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मरने पर भी पुरुष का परित्याग नहीं करती?"

इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"वह वस्तु है नाम। शरीर के नाश होने पर भी पुरुषों के नाम का नाश नहीं होता। रामायण महाभारतादि के पात्र पुरुष मर गये, किन्तु उनका नाम अभी तक विद्यमान है। नामाभिमानी विश्वेदेवा अनन्त है नाम भी अनन्त है अतः नाम का ही नाश नहीं होता। जो विद्वान् इस अनन्ता के रहस्य को जान लेते हैं, वे अनन्त-शाश्वत-लोक को जीत लेते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने चार प्रश्नों का यथावत् उत्तर पाकर आर्तभाग ने पाँचवा अन्तिम प्रश्न पूछते हुए कहा—"अच्छा, याज्ञवल्क्यजी! यह बताइये। जिस समय पुरुष मर जाता है, तब उसकी वाणी तो अग्नि में मिल जाती है। प्राण उसके वायु में विलीन हो जाते हैं। चक्षु आदित्य में समा जाती हैं। मन चन्द्रमा में, कान दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, हृदय का जो आकाश है, वह पंचभूतों वाले आकाश में, जितने रोम हैं वे सब ओषधियों में, तथा केश वनस्पतियों में मिल जाते हैं। रक्त तथा वीर्य ये जो द्रव पदार्थ हैं ये जल में लीन हो जाते हैं। उस समय पुरुष कहाँ रहता है? किस स्थान में निवास है?"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! सार्वजनिक स्थान में सबके सम्मुख ऐसा रहस्यमय प्रश्न सुनकर महामुनि याज्ञवल्क्यजी कुछ मुस्कराये। प्रसन्नता प्रकट करते हुए वे महामुनि आर्तभाग से बोले—"प्रिय दर्शन आर्तभागजी ! तुमने बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया। मैं तुमसे परम प्रसन्न हूँ। कृपया अपना हाथ मेरे हाथ में तो दें। चलो, एकान्त में मैं तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर दूँगा। उसे तुम जानो और मैं जानूँ। इसका उत्तर सार्वजनिक स्थान में नहीं दिया जा सकता।"

यह सुनकर महामुनि आर्तभाग ने प्रसन्नता पूर्वक महर्षि याज्ञवल्क्यजी का हाथ पकड़ा। दोनों प्रेमपूर्वक हाथ पकड़े हुए भीतर एकान्त में चले गये। दोनों ने इस विषय पर बैठकर परस्पर में विचार किया। दोनों ने परस्पर में ऊहापोह करके यही निश्चय किया कि कर्म ही मुख्य है। यह पुरुष कर्माधीन ही है। एकमात्र कर्म ही प्रशंसनीय है। जो पुरुष शुभ कर्म करता है, वह पुण्य-लोकों में चला जाता है। जो पुरुष पापकर्म करता है, वह नर-कादि अधम लोकों में चला जाता है। पुण्यकर्म करके पुरुष पुण्य वान् होता है पुण्य में निवास करता है। पाप कर्म करके पापी कहलाता है। अतः मरने पर जैसे जिसके कर्म होते हैं, वैसी उसकी गति होती है कर्मानुसार पुरुष पुण्य पाप में रहता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार आर्तभाग मुनि ने महर्षि याज्ञवल्क्यजी से पाँच प्रश्न किये। याज्ञवल्क्यजी ने भी उनके यथातथ्य उत्तर दे दिये। इससे आर्तभाग मुनि सन्तुष्ट हो गये। अब आगे तृतीय ब्राह्मण में महर्षि भुज्यु और याज्ञवल्क्य जी का जैसे शास्त्रार्थ होगा, दोनों में जैसे प्रश्नोत्तर होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

आर्तभाग पुनि प्रश्न–मृत्यु के खाद्य सबहिं हैं।
कौन मृत्यु कूँ खाइ ? अग्नि ही मृत्यु सरिस है॥
जलहि मृत्यु कूँ खाइ पराभव मृत्यु जल भवा।
मरें पुरुष तब प्राण करें उतक्रमण नहीं वा?
प्राण प्रथम तजि देहकूँ, जाइ मिलैं तन वायु भरि।
वायु पूर्ण फूलें मृतक, सोवै मानो भू उपरि॥

(२)

कहो, पुरुष जब मरै कौन छोड़ै नहिं ताकूँ?
विश्वेदेव अनन्त नाम नहिं छोड़ै याकूँ॥
पावै लोक अनन्त रहस जो जाकूँ जाने।
पंचम पुनि करि प्रश्न विजित मुनि मन में माने॥
भूतेन्द्रिय निज निज विषय, मिलैं मरन के समय जब।
देह मृतक है जाति है, कहाँ रहै यह पुरुष तब?

(३)

याज्ञवल्क्य हँसि कहें–देउ निजकर मम करमें।
प्रश्न तुम्हारो गूढ़ चलो एकान्त भवन में॥
दोऊ उठि एकान्त विचारें प्रश्नहिं मिलिकैं।
रहै करम में पुरुष करयो निर्णय तिनि हँसिकैं॥
पुण्यवान हो पुण्य तें, पापी होवै पाप करि।
कर्म प्रशंसा मिलि करी, आर्तभाग चुप भये फिरि॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय में
द्वितीय आर्तभाग ब्राह्मण समाप्त।
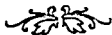
याज्ञवल्क्य और लाह्यायनि भुज्यु का शास्त्रार्थ

[२३१]

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ३ ब्रा० १ मन्त्रांश)

छप्पय

पुनि आये मुनि भुज्यु प्रश्न पुनि तिनिनें कीयो।
ग्रह ग्रहीति इक पुत्रि कौन तू ? उत्तर दीयो॥
पारीक्षित कित रहे ? वही पूछें हम तुम तैं।
मुनि बाले—जित अश्वमेध कर्तागत है ते॥
रहें कहाँ ? वह लोककित ? है बतीस देवरथ्याह वह।
तिहि दुगुनी भू घेरि है, घिरी समुद तैं दुगुन यह॥

मनुष्य शरीर ऐसा है, कि इसे माध्यम बनाकर देव, उपदेव तथा अन्यान्य ग्रह अपना-अपना कार्य करते हैं। जब मनुष्य

---

* जारत्कारव आर्तभाग जब शास्त्रार्थ करके अपने प्रश्नों का यथार्थ उत्तर पाकर मौन हो गये, तब याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ करने लाह्यायनि भुज्यु उनके सम्मुख आये और आकर कहने लगे—"हे याज्ञवल्क्य ! अब तुम हमारे प्रश्नों का उत्तर दो।"

शरीर में दूसरे ग्रह आकर प्रवेश कर जाते हैं, तो उस शरीर को माध्यम बनाकर वे पुरुष उसके द्वारा अपने भाव प्रकट करने लगते हैं, जिनका आवेश उनके शरीर में होता है।

मनुष्य शरीर को माध्यम बनाकर देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच तथा अन्यान्य ग्रह उसमें आवेशित हो जाते हैं। जो सात्विक प्रकृति के पुरुष होते हैं, उनके शरीरों में सत्व प्रधान देवताओं का आवेश होता है। जो रजोगुण प्रधान पुरुष होते हैं, उनके शरीर में यक्ष, राक्षस, असुर, पितर आदि का आवेश होता है और जो तमोगुण प्रधान होते हैं। उनके शरीर में भूत, प्रेत, पिशाच, वैतालादि का आवेश होता है पूर्वजन्म के सम्बन्ध से किसी का भी किसी में आवेश हो सकता है, इसका कोई नियम नहीं। जो पढ़े-लिखे विद्वान् ब्राह्मण क्रोधादि किसी दुष्कर्म से ब्रह्मराक्षस हो जाते हैं, वे जिस शरीर में प्रवेश हो जायेंगे, उसी में अपने भाव उसकी वाणी में प्रकट करने लगेंगे। यह तो प्रत्यक्ष देखा गया है, कि जो आदमी संस्कृत भाषा तनिक भी नहीं जानता, उसके शरीर में जब ब्रह्म राक्षस का प्रवेश हो जाता है, तो वह धारा प्रवाह संस्कृत बोलने लगता है। काशी के समीप हरसूब्रह्म अभी तक पूजे जाते हैं। देश भर के लाखों नर-नारी उनके यहाँ आते हैं।

विहार के सिनहा नामक नगर के एक क्षत्रिय कुमार ने एक पीपल के पेड़ के नीचे लघु शंका कर दी थी। उस पर एक ब्रह्म राक्षस रहता था। वह उसके ऊपर चढ़ गया। एक पंडितजी जब उसके समीप गये, तो वह अपठित बालक धारा प्रवाह संस्कृत बोलने लगा। तब उसने जो-जो उपाय बताये उनके करने पर वह उसे छोड़कर गया।

पहाड़ों पर बहुत से भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्म राक्षसों का आवेश होता है। उस समय गाँव के सैकड़ों नर नारी जुट जाते हैं और भाँति भाँति के प्रश्न उससे पूछते हैं कभी कभी तो वे ऐसे यथार्थ उत्तर देते हैं, कि सुनकर आश्चर्य होता है। उत्तर काशी में एक व्यक्ति पर यक्ष का आवेश हुआ, गाँव के लोग उससे भाँति भाति के प्रश्न पूछ रहे थे, उसी समय एक सन्यासी वहाँ पहुँच गया। वह अपने को पूर्ण ब्रह्मवेत्ता–ब्रह्मज्ञानी–लगाता था। उसने यक्ष से पूछा—"अच्छा बताओ। मुझे पूर्ण ब्रह्मज्ञान है या नहीं ?"

उस आवेशित पुरुष ने उत्तर दिया—"तुम्हें ब्रह्मज्ञान नहीं है।"

सन्यासी ने पूछा—"क्यों नहीं है ?"

उसने कहा—"इसलिये नहीं है कि तुम पूछ रहे हो, मुझे है या नहीं ? तुम्हें जब स्वय सन्देह है तो तुम ब्रह्मज्ञानी कैसे ? ब्रह्मज्ञानी के तो समस्त सशय नाश हो जाते हैं।"

यह कैसा युक्तियुक्त उत्तर है, ऐसा उत्तर ग्रामीण अनपढ व्यक्ति जिस पर ग्रह का आवेश हुआ था वह अपने आप दे सकता है ? ऐसा उत्तर तो बुद्धिमान व्यक्ति ही दे सकता है। बहुत से भूतप्रेत पिशाच पूर्वजन्म मे जो भाषा बोलते थे। जिस पर वे आते हैं उसके मुख से उसी भाषा मे बोलने लगते हैं।

गन्धर्व देवताओं के गायक होते हैं। ये उपदेव हैं। विद्याधर और गन्धर्व ये सबसे अधिक सुन्दर होते हैं। गन्धर्व अत्यन्त ही सौन्दर्य प्रिय होते हैं। जो स्त्री अत्यन्त सुन्दरी होती है उस पर गन्धर्वों का आवेश आता है, क्योंकि गन्धर्व स्त्री की कामना वाले होते हैं। बड़ी बड़ी राजकुमारियों पर गन्धर्वों का आवेश होता देखा गया है।

सूतजी कहते—"मुनियो ! जब आर्त भाग मुनि याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ में निरुत्तर हो गये, तब भुज्यु नाम वाले विद्वान् ब्राह्मण जो लाह्य गोत्र में उत्पन्न होने से लाह्यायनि कहलाते थे, वे सम्मुख आये। उन्होंने याज्ञवल्क्यजी से कहा—याज्ञवल्क्य ! हम तुमसे कुछ प्रश्न पूछेंगे, उनका उत्तर दोगे ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"पूछिये, यदि हम जानते होंगे, तो उत्तर देंगे।"

इस पर भुज्यु मुनि ने एक कथा सुनायी, वे बोले—"सुनो, एक बार की बात है हम ब्रह्मचर्य व्रत का भलीभाँति पालन करते हुए, विद्या और अनुभव की वृद्धि के निमित्त मद्र देश में विचरण कर रहे थे। वहाँ पर हम ब्राह्मण की खोज करते हुए एक कपि-गोत्र में उत्पन्न काप्य पतञ्चल नाम के ब्राह्मण के घर में पहुँच गये। वहाँ जाकर हमने देखा उनके घर में बहुत से नरनारी जुटे हुए हैं। उनके बीच में उनकी परम सुन्दरी पुत्री बैठी है।"

हमें घर में आया देखकर ब्राह्मण ने हमारा सत्कार किया। पाद्य अर्घ्यादि देकर हमारी पूजा की। तब हमने उनसे पूछा—"इस पुत्री को क्या हो गया है ?"

तब ब्राह्मण ने कहा—"ब्रह्मन् ! इस पर किसी गन्धर्व का आवेश हो गया है। यह गन्धर्व गृहीता है।"

तब हमने उससे पूछा—"तू कौन है ?"

उसने उत्तर दिया—"आंगिरस सुधन्वा हूँ। अर्थात् अंगिरा गोत्र वाला मैं सुधन्वा नामक गन्धर्व हूँ।"

तब हमने उससे इन समस्त लोकों के अन्त के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। उनमें से हमने एक यह भी प्रश्न किया—"पारीक्षित कहाँ रहे ? पारिक्षित कहाँ रहे ?"

हमारे इस प्रश्न को सुनकर उस गन्धर्व ने इसका हमें

समुचित उत्तर दिया। उस उत्तर से हम सन्तुष्ट हुए। अब उसी प्रश्न को हम आप से पूछते हैं—"आप बताओ पारीक्षित कहाँ रहे?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"ब्रह्मन्! यह तो मुझे पता नहीं, उस गन्धर्व ने आपको क्या उत्तर दिया, किन्तु मैं अपनी बुद्धि द्वारा आपके प्रश्न का उत्तर देता हूँ। देखिये, सब प्रकार के पाप जिसके करने से नाश हों उसे परीक्षित कहते हैं, वह कर्म है अश्वमेध यज्ञ। क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है-भ्रूण हत्या से बढकर तो कोई पाप नहीं है और अश्वमेध यज्ञ से बढकर कोई पुण्यकर्म नहीं (भ्रूणहत्याश्वमेधाभ्यां न पर पुण्यपापयोः) इसलिये अश्वमेध यज्ञ से समस्त पाप क्षय हो जाते हैं इसीलिये अश्वमेध यज्ञ का ही नाम परीक्षित है। उस परीक्षित-अश्वमेध-यज्ञ को जो करे वही पारीक्षित है। उस गन्धर्व ने यही कहा होगा, कि जहाँ अश्वमेध यज्ञ करने वाले जाते हैं वहीं वे पारीक्षित चले गये।"

इस पर भुज्यु मुनि ने पुनः प्रश्न किया—"अच्छा, तो तुम ही बताओ अश्वमेध यज्ञ करने वाले किस लोक में जाते हैं?"

इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्यजी कहने लगे—"जिस लोक में पारीक्षित अश्वमेध कर्ता जाते हैं, वह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य है।"

शौनकजी ने पूछा—"बत्तीस देवरथाह्न्य क्या?"

सूतजी ने कहा—"देव सूर्य का नाम है उनका रथ ही देवरथ है। सूर्यनारायण अपनी गति से अपने रथ द्वारा एक दिन में संसार का जितना भाग नाप लेते हैं उतने भाग को देवरथाह्न्य कहा जाता है यही लोकालोक पर्वत की सीमा है। लोकालोक के अन्तवर्ती भूभाग का जितना विस्तार है, उसी से उसके दूसरी

ओर के अलोक प्रदेश के परिणाम की व्याख्या जाननी चाहिये। सुमेरु पर्वत के चारों ओर घूमने वाले सूर्य के रथ का सम्वत्सर रूप पहिया देवताओं के दिन और रात्रि अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायन के क्रम से सदा घूमते रहते हैं। सुमेरु पर्वत की चारों दिशाओं में चार पुरियाँ हैं उन चारों पुरियों में इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम ये चार लोकपाल रहते हैं। इससे आगे लोकालोक नामक पर्वत है यह पर्वत पृथ्वी के सब ओर सूर्य आदि द्वारा प्रकाशित और अप्रकाशित प्रदेशों के बीच में उनका विभाग करने के लिये अवस्थित है। अर्थात् इसके एक ओर तो प्रकाश है दूसरी ओर अन्धकार है। यह लोकालोक पर्वत इतना ऊँचा और लम्बा है, कि इसके एक ओर से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाली सूर्य से लेकर ध्रुव पर्यन्त समस्त ज्योतिमण्डल की किरणें दूसरी ओर नहीं जा सकतीं। तो बत्तीस देवरथाह्वय परिमाण वाला यह लोकालोक पर्वत से घिरा हुआ लोक है। जिसमें वैराज शरीर से प्राणियों के कर्म फल का उपभोग होता है। इतना लोक हुआ। जहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँचतीं वह अलोक प्रदेश हुआ। लोकालोक पर्वत लोक और आलोक दोनों प्रदेशों की सीमा है।

शौनकजी ने पूछा—"तो वह बत्तीस देवरथाह्वय प्रदेश कैसा है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! ऐसा बताते हैं, कि उसे चारों ओर से दुगुने परिणाम में सूक्ष्म पृथ्वी घेरे है। उस पृथ्वी को उससे दुगुने परिणाम में सब ओर से समुद्र घेरे हुए है। इस ब्रह्माण्ड के दो अण्डकपाल हैं जैसे चना के दो दल। इस नीचे के घेरे से ऊपर का जो घेरा है उसमें एक छिद्र है। वह कितना सूक्ष्म छिद्र है जितनी पतली छुरे की धार होती है उतना पतला

वह छिद्र है। अथवा जितना सूक्ष्म मक्खी का पख होता है, उतना ही अण्डकपालों के मध्य मे आकाश है। इन्द्र ने पक्षी होकर-गरुड बनकर-जो अश्वमेध करने वाले पारीक्षित हैं उन्हें वायु को प्रदान किया। उन्हें वायु अपने स्वरूप मे करके अण्ड-कपालों के बाहर ले गया। वहाँ वायु रूप से वे अश्वमेध करने वाले पुण्यात्मा पुरुष रहते हैं।"

याज्ञवल्क्यजी भुज्यु मुनि से कह रहे हैं सो मुनिवर। मेरी बुद्धि में तो वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि है। उस गन्धर्व ने अवश्य ही वायु की प्रशंसा की होगी। अश्वमेध करने वाले तो स्वर्ग को जीतते हैं किन्तु उपासना के क्रम से जो इस प्रकार वायु के व्यष्टि और समष्टि रूप को भली भाँति जान लेता है, वह पुन-मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् उसकी फिर कभी मृत्यु नहीं होती। वह मोक्ष पदवी को प्राप्त कर लेता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जब लाह्यायनि भुज्यु ने अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर पा लिया तो उनके पास पूछने को कोई अन्य प्रश्न नहीं रहा। वे चुप हो गये। उनके चुप जाने के अनन्तर महर्षि उपस्त जैसे शास्त्रार्थ करने उनके सम्मुख आये और याज्ञवल्क्य तथा उपस्त के जैसे प्रश्नोत्तर होंगे, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय—छुराधार सम सूक्ष्म पंख मक्खी सम पतरो।
अण्ड कपालनि मध्य रहै आकाश जु सकरो॥
पक्षी बनिकें इन्द्र वायु तैं पारीक्षित सब।
दये, लै गये वायु रूप निज थापित करि अब॥
व्यष्टि समष्टि हि वायु है, वायु प्रशंसा यह विदित।
होइ मृत्युजित जानिकें, भये भुज्यु चुप पराजित॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
तृतीय भुज्यु ब्राह्मण समाप्त।

याज्ञवल्क्य और उषस्त का शास्त्रार्थ

[२३२]

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति ॥ ❀

(वृ० उ० ३ अ० ४ ब्रा० १ मन्त्रांश)

छप्पय

चक्रायण हु उषस्त कर्यो सम्वाद आइ पुनि ।
याज्ञवल्क्य ! जो ब्रह्म सर्वअन्तर आतमा सुनि ॥
ताकी व्याख्या करो ? कहें मुनि–तव सर्वात्मा ।
सर्वान्तर वह कौन ? प्राण को प्राण आतमा ॥
प्राण क्रिया जो प्राण तैं, करै अपान अपान तैं ।
तव सर्वान्तर आतमा, व्यान क्रिया करि व्यान तैं ॥

संस्कृत साहित्य में आत्मा शब्द के बहुत से अर्थ हैं । आत्मा शब्द देह, मन, बुद्धि, धृति, यत्न, स्वभाव, पुत्र, जीव, अग्नि, वायु तथा ब्रह्म आदि अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है । ये अर्थ तो प्रसंगानुसार प्रकरण देखकर किये जाते हैं । वैसे आत्मा शब्द ब्रह्म वाचक ही है । आप अपनी अन्तरात्मा से पूछो । अर्थात् भीतर जो सब भूतों में साक्षी रूप से अवस्थित है । जो सबकी आत्मा है । सबका ज्ञाता है, जो सदा सर्वदा एक रस रहता है, जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसका कभी जन्म नहीं होता जो कभी घटता बढ़ता नहीं । जो सबका साक्षी है । जो अकर्ता

❀ भुज्यु मुनि के चुप होने पर चक्रायण उषस्त मुनि ने याज्ञवल्क्य जी से पूछा —"याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, उसी की आप मेरे प्रति व्याख्या कीजिये ।"

होकर भी सब कुछ करता है। जो जन्म न लेने पर भी जन्मों का कारण है। जो किसी का कभी संहार न करता हुआ भी समस्त संहारों का हेतु है। उस सर्वव्यापक, सर्वाधार, सर्वकारण सर्व स्वरूप सर्वात्मा, सर्वसाक्षी आत्मा के विषय मे वाणी द्वारा कोई कह ही क्या सकता है? क्योकि मन वाणी आदि भाव व्यक्त करने के सर्व उपकरण तो उसके पीछे बने हैं। पीछे उत्पन्न होने वाला भला अपने से पहिले वाले के सम्बन्ध मे यथातथ्य इदमित्थम्, यह ऐसा ही है, ऐसा ही हो सकता है। इस प्रकार अविकार पूर्ण भाषा मे कह ही कैसे सकता है। अतः आत्मा के सम्बन्ध मे वाणी द्वारा जो भाव व्यक्त किये जाते हैं वह वाणी का विलास मात्र ही है।

जब वाणी उसके सम्बन्ध मे कुछ भी कहने की अधिकारिणी ही नहीं तो क्या वाणी द्वारा ब्रह्म का विचार व्यक्त न करना चाहिये? मन द्वारा उसका मनन न करना चाहिये? चाहिये क्यो नहीं। वाणी यदि ब्रह्म का विचार नहीं करती तो वह व्यर्थ है। मन यदि आत्म चिन्तन नहीं करता तो उसका अस्तित्व निरर्थक है। वाणी की सार्थकता ब्रह्म विचार में ही है। मन की सार्थकता माधव मनन मे ही है, किन्तु वाणी द्वारा जो भाव व्यक्त किये जायँ ब्रह्म उतना ही नहीं है। यदि उतने को ही ब्रह्म मान लें, तब तो फिर ब्रह्म सीमा में आबद्ध हो जायगा, किन्तु वह निस्सीम है। मन द्वारा जो ब्रह्म मनन किया जाता है, ब्रह्म उतना ही नहीं है, यदि उतने को ही ब्रह्म मान ले तब तो मन ने ब्रह्म का पार पा लिया, किन्तु वह तो अपार है। अतः मन से वाणी से ब्रह्म का विचार करो अवश्य, किन्तु साथ ही यह भी निश्चय रखो वह वर्णनातीत है। अवाङ्मानस गोचर है। वह इन्द्रियातीत है अन्तःकरण से परे है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तक जनक के होता अश्वल, जारत्कारव आर्तभाग तथा लाह्यायनि भुज्यु ने याज्ञवल्क्य जी से जो-जो प्रश्न किये वे कर्मकांड तथा उपासना कांड के ही सम्बन्ध के थे। अब चाक्रायण गोत्रीय उपस्त ऋषि ने उनसे ज्ञान कांड के ब्रह्म सम्बन्धी प्रश्न पूछने आरम्भ किये। उपस्त मुनि ने कहा—"अच्छा, याज्ञवल्क्य जी! यह बताओ जो सर्वान्तर आत्मा है वह क्या है?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"ब्रह्म ही सर्वान्तर आत्मा है।"

उपस्त ने कहा—' उस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म की जो सर्वान्तर आत्मा है। उसकी मुझसे पूर्णरीत्या व्याख्या कीजिये।"

हँसकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"उसकी व्याख्या क्या करें यह जो तुम्हारा अन्तरात्मा है वही सर्वान्तर आत्मा है।"

उपस्त ने पूछा—"वह सर्वान्तर कौन-सा है, स्पष्ट करके समझाइये।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"देखो, हृदय में जो प्राण है, वह समस्त शरीर में प्राणन क्रिया--जीवन प्रदान करता है, उस प्राण को भी जो जीवन प्रदान करता है, अर्थात् जिसके द्वारा प्राण चेष्टा युक्त होता है, वही आत्मा है। अपान नामक प्राण गुदा में स्थित रहकर दूषित वायु तथा मल मूत्र को बाहर फेंकने का काम करता है, उस अपान वायु को भी जो चेष्टा प्रदान करता है अर्थात् अपान में जिसके द्वारा अपानत्व शक्ति आती है, वही तेरा सर्वान्तर आत्मा है। व्यान नामक प्राण समस्त शरीर में व्याप्त होकर शरीर को सुस्थिर रखने की चेष्टा करता है, उस व्यान वायु को भी जहाँ से चेष्टा प्राप्त होती है, अर्थात् व्यान में व्यानत्व स्थापित करता है, वही तेरा सर्वान्तर आत्मा है। कण्ठ मध्य में जो उदान नामक वायु निकलना, थूकना, बोलना आदि

कार्यों को करता है, उस उदान नामक प्राण को भी जहाँ से चेष्टा प्राप्त होती है अर्थात् उदान में जो उदानत्व स्थापित करता है, वही तेरा सर्वान्तर आत्मा है। यही आत्मा है यही सर्वान्तर है।

हँसकर उपस्त ने कहा—"यह तो आप टरकाने की बात कर रहे हो। यह तो चतुरता से उत्तर देकर मुझे चुप करना चाहते हो। यह तो परोक्ष उत्तर हुआ। मैंने तो आपसे अपरोक्ष साक्षात् ब्रह्म का लक्षण पूछा था। आपने प्रत्यक्ष ब्रह्म न बताकर उसका लाक्षणिक संकेत मात्र कर दिया। यह तो बस ही हुआ, जैसे कोई किसी से कहे—"हमें प्रत्यक्ष गौ दिखा दो।" तो उसके उत्तर में प्रत्यक्ष गौ न दिखाकर यह कह दे—"जिसके चार पैर हैं वह गौ है जिसके दो सींग हैं वह गौ है, चलती है दौड़ती है वह गौ है। यह कोई उत्तर थोड़े ही हुआ। उसे तो गौ के सींग पकड़कर प्रत्यक्ष सम्मुख खड़ा करके यह कहना चाहिये देखिये यह गौ है। कोई घोड़ा पूछे तो घोड़े का कान पकड़कर प्रत्यक्ष सम्मुख उपस्थित करके दिखाना चाहिये यह घोड़ा है। कह दिया जो दौड़ता हो, चार पैरों वाला हो वह घोड़ा है यह तो कोई उत्तर नहीं हुआ। हमने अपरोक्ष साक्षात् ब्रह्म के सम्बंध में पूछा था। अतः जो भी सक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा हो उसे स्पष्ट करके प्रत्यक्ष दिखाकर हमें बताओ।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—'जिसके द्वारा तुम बोल रहे हो, उस वाणी को भी जो बोलने की शक्ति प्रदान करने वाला है वही तुम्हारा सर्वान्तर आत्मा है।'

उपस्त ने कहा—"फिर वही बात। साठ कहो तीन बीसा कहो एक ही बात हुई। स्पष्ट करके बताओ। प्रत्यक्ष करके आत्मा को दिखाओ।"

हँसकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"ब्रह्मन्! तुम दृष्टि के

द्रष्टा को नहीं देख सकते जो श्रुति का श्रोता है, उसे नहीं सुन सकते मति के मन्ता को मनन नहीं कर सकते विज्ञाति के विज्ञाता का विज्ञान नहीं कर सकते। देखो, आँखें सबको देखती हैं किंतु अपनी आँखों को कोई प्रत्यक्ष देख नहीं सकता। आत्मा नित्य है और सब अनित्य है। तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर है। वह प्रत्यक्ष कैसे दिखाया जा सकता है। दर्शन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन जो कर्ता है, उसे इन अनित्य आँखों से कैसे दिखाया जा सकता है ? बोलो, नानी के विवाह को धेवती कैसे देख सकती है ? तुम्हीं बताओ भैया देखने मनन करने वाली इन्द्रियाँ आदि नाशवान् हैं, आत्मा अविनाशी है अविनाशी को नाशवान् वस्तुओं द्वारा कैसे दिखाया जा सकता है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! याज्ञवल्क्य जी के इस उत्तर से चाक्रायण उषस्त निरुत्तर हो गये। आगे वे कुछ भी न पूछ सके। उषस्त के निरुत्तर हो जाने पर कहोल मुनि याज्ञवल्क्य जी से शास्त्रार्थ करने आगे आये। अब जैसे याज्ञवल्क्य और कहोल का शास्त्रार्थ होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पुनि उषस्त मुनि कहे—लाक्षणिक मत्त बतायो।
बैल अश्व जो चले नहीं प्रत्यक्ष दिखायो ॥
सर्वान्तर सो कौन ? कहें—द्रष्टा नहिं देखो।
सुनो न श्रोता श्रुतहिं, मतिहिं मन्ता नहिं पेखो ॥
सर्वान्तर—यह आतमा, नाशवान् हैं अन्य सब।
याज्ञवल्क्यको उत्तर सुन्यो, चुप उषस्त मुनि भये तब ॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय में
चतुर्थ उषस्त ब्राह्मण समाप्त।

—०—